पुराण दर्शन समग्रदृष्टि

प्रथम भाग - पुराण का वेदत्व



लेखक
पं. अनन्त शर्मा
सम्पादक
प्रो. ताराशंकर शर्मा 'पाण्डेय'

पुराण दर्शन समग्रदृष्टि

प्रथम भाग - पुराण का वेदत्व



लेखक
पं. अनन्त शर्मा
सम्पादक
प्रो. ताराशंकर शर्मा 'पाण्डेय'

पुराण दर्शन समग्रदृष्टि

प्रथम भाग – पुराण का वेदत्व

डॉ. जगदानन्द झा महोदय
को सस्नेह
अनन्त शर्मा
27.12.10

प्रणेता

पं. अनन्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. ताराशंकर शर्मा 'पाण्डेय'

पुराण दर्शन समग्रदृष्टि

प्रथम भाग - पुराण का वेदत्व

प्रणेता

पं. अनन्त शर्मा

अध्यक्ष

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री साहित्यपीठ

ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

सम्पादक

प्रो. ताराशंकर शर्मा 'पाण्डेय'

आचार्य एवं अध्यक्ष, साहित्य विभाग

ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय

जयपुर

ज.रा.रा.सं.वि.वि. ग्रन्थमाला - 12
भट्ट मथुरानाथ शास्त्री साहित्यपीठ प्रकाशन - 1

प्रथम संस्करण - मार्च, 2010

मूल्य -275/-

वर्ष - 2010

प्रकाशक-
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
ग्राम - मदाऊ, पोस्ट-भांकरोटा, जयपुर
पिन कोड - 302026

मुद्रकः
अमर युग प्रिन्टर्स
धामानी गली, चौड़ा रास्ता, जयपुर
फोन - 0141-2310747

समर्पण

वेद-विद्या
की
चिरन्तन-परम्परा
के
उद्भावक
भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास
को
समर्पित

– पं. अनन्त शर्मा

प्रो. युगल किशोर मिश्र
कुलपति,
ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय,
जयपुर

सूक्तवाक्

आर्ष संस्कृति में पुराणों को धर्म तथा समस्त विद्याओं के मूल उत्स के रूप में अन्य शास्त्रों के साथ प्रथमतया परिगणित किया गया है। यह परिगणन सोद्देश्य एवं सार्थक है। वेदों में जहां सृष्टि, धर्म एवं विधाओं के तत्त्व अतिसंक्षिप्त सूत्र रूप में अतएव किंचित् क्लिष्ट शैली में वर्णित है वहीं पुराणों में ये तत्त्व सर्वजन-सुखबोध के लिये रोचक प्रसंगों के माध्यम से सरल शैली में वर्णित हैं। इस स्थूल भेद के साथ पुराणों का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि यद्यपि शब्द-विन्यास का कर्तृत्व होने के कारण भगवान् व्यास पुराणों के कर्ता हैं किन्तु प्रतिपाद्य-विषय की दृष्टि से पुराण-संहिता वेद के समान अनादि हैं।

आधुनिक विचारक पुराणों के बहिरंग पर या वर्णन शैली पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर अनेकविध आक्षेप करते हैं जो ग्राह्य नहीं हैं क्योंकि पुराणों का अन्तरंग निश्चित रूप से वेदानुमोदित होने के कारण प्रमाणकोटि में आता है जिसे पूरी आर्ष-परम्परा स्वीकार करती है। अतएव कहा गया है -

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

तर्क एक सीमा तक ही अपनी गति रखता है, उसके बाद वह उसी प्रकार मौन या अप्रतिष्ठ हो जाता है जिस प्रकार इक्षु, दुग्ध एवं

जल के मिठास का भेद करने में वाणी मौन हो जाती है। अत एव पुराण के अनुशीलन में अध्येता को श्रद्धा और तर्क का मञ्जुल समन्वय रखना चाहिये। पुराणों के अनुशीलन में यदि यह दृष्टि नहीं रखी जाती है तो ऐसे अध्येता के लिये यह सूक्ति सर्वथा सटीक बन जाती है –

यः प्राप्य दुष्प्राप्यमिदं नरत्वं
धर्मं न यत्नेन करोति मूढः।
क्लेशप्रबन्धेन सलब्धमब्धौ
चिन्तामणिं पातयति प्रमादात्॥

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय के भट्ट मथुरानाथशास्त्री साहित्य शोधपीठ के पीठाध्यक्ष आचार्य अनन्त शर्मा जी ने 'पुराण दर्शन समग्र दृष्टि' नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर न केवल संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि की है, अपितु अपनी नव–नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा शास्त्रसुधामथ्य को भी आविष्कृत किया है, जो निश्चय ही स्पृहणीय है। मैं इस ग्रन्थ के प्रथमखण्ड को सुधीजनों के कर–सम्पुट में उपहृत करते हुए अमन्दानन्दसन्दोह का अनुभव करता हूं तथा विद्वान् लेखक का श्रद्धाभरित अभिनन्दन करता हूँ।

11 मार्च 2010

युगलकिशोरमिश्रः

प्रो. युगलकिशोर मिश्र
कुलपति
ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
जयपुर

माधवी वाक्

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इस उक्ति का प्रयोग महाकवि कालिदास ने किन परिस्थितियों में किया यह तो उसकी विवक्षा के मर्मज्ञों, सहृदयों एवं समीक्षकों में सदैव चर्चा का विषय रहा ही है फिर भी यह सत्य है कि उक्त कथन प्रकृत पुराणों के विषय में तो कथमपि ग्राह्य नहीं है। **'सायं चिरम्'** ----(४/३/२३) पाणिनि के इस सूत्र से सन्दर्भित **'पुरा भवम्'** यह व्युत्पत्ति भी यहाँ चरितार्थ नहीं हो सकेगी क्योंकि यहाँ जिन पुराणों की चर्चा की जा रही है वे प्राचीन काल में भले ही निर्मित हुए हो परन्तु इस रूप में उनकी समाज में प्रासंगिकता नहीं हो सकेगी। सम्भवतः यही कारण रहा कि महर्षि पाणिनि के मस्तिष्क में निपातन सूत्रों की रचना करते समय एक बार फिर इस बारे में विचार आया और उन्होनें **'पुराण प्रोक्तेषु'**-- (४/३/१०५) इस नवीन सूत्र का प्रतिपादन किया। एतदनुसार नवीन सार्थक व्युत्पत्ति अभिप्रेत हुई : **'पुरापि नवं पुराणम्'** अर्थात् पुराने होते हुए भी नवीनता धारण करें वे पुराण हैं, इस अभिप्राय को यदि महाकवि माघ के शब्दों में और अधिक स्पष्ट करना चाहें तो सहज ही इस उक्ति पर ध्यानाकर्षण होता है- **'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'**। (शिशुपालवधम्-४/१७) अर्थात् पुराना होते हुए भी प्रतिपल नवीनता को प्राप्त हो वही रमणीयता है। प्रकृत पुराणों के सन्दर्भ में यह समुचित प्रतीत होता है कि पुराणों का कितना ही अध्ययन करें फिर भी घटनाओं की अधिकता, विचित्रता, चमत्कारिता आदि सभी कुछ उन्हें पुनः पढ़ने को आकृष्ट करती हैं और पुराणों के तत्तत् चरित्रों कथानकों एवं प्रसंगों से चित्त में एक नवीन जागर्ति, स्फूर्ति एवं नव चेतना का संचार होता है परिणामतः उनकी पुरातनता नित्यशः नवीनता में बनी रहने का यह एक पक्ष हुआ। यहाँ इस प्रसंग में एक बार यदि फिर से सूक्ष्मतया गम्भीरता से चिन्तन, मनन निदिध्यासन करें तो दूसरा पक्ष भी प्रत्यक्ष होता सा प्रतीत होता है वह इस पुराण शब्द को अन्य व्युत्पत्ति से प्रतिफलित करता है -**'पुरा = अतीतानागतावर्थौ अणति (अण् शब्दे-भ्वा .प. से.) इति पुराणम्'** अर्थात् अतीत और अनागत

अर्थों को प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ पुराण कहलाते हैं। यह सत्य भी है कि पुराणों में प्राचीन इतिवृत्तों की प्रस्तुति के साथ भविष्य में होने वाली घटनाओं के प्रामाणिक विवरणों का वर्णन मिलता है।

इन सभी तथ्यों को यदि दृष्टि में रखा जाये तो पुराण हमारे लिए वे ऐतिहासिक दस्तावेज हैं जिनके आधार पर भारतवर्ष एवं विश्व की भौगोलिक एवं शासनिक व्यवस्था का एक नवीन चित्रफलक प्रस्तुत हो सकता है जो इस देश की अस्मिता को नवीन जीवनदान दे सकते हैं जिससे भारत वर्ष का न केवल विश्वगुरुत्व स्थापित हो सकता है अपितु इसका भौगोलिक क्षेत्रफल आज की तुलना में शताधिक गुणा बढ़ सकता है। यही सब कुछ जानते हुए हमारे ऋषि, महर्षियों ने पुराणों को न केवल वेद का दर्जा दिया अपितु यत्र-तत्र शताधिक उद्धरणों से उसे पंचम वेद सिद्ध किया है।

इस मर्म को बहुत गहराई से समझा, पुराण मर्मज्ञ, विद्यानिधि हमारे आचार्य, इस विश्वविद्यालय की **भट्टमथुरानाथ शास्त्री साहित्य पीठ** के अध्यक्ष पं. अनन्त शर्मा जी, ने जो न केवल पुराणों के अपितु संस्कृत वाङ्मय की प्रत्येक विद्या-विधा के पारङ्गामी हैं। यही कारण है कि आप संस्कृत में निहित ज्ञान विज्ञान की प्रस्तुति के साथ शास्त्रग्रन्थियों को विस्फोरित करने में एवं संरक्षण प्रदान करने हेतु **'अहर्निशं सेवामहे'** के सिद्धान्त को चरितार्थ करते हैं।

आपके इन्हीं प्रयासों के प्रतिफल के रूप में **पुराण दर्शन समग्र दृष्टि, प्रथमभाग – 'पुराण का वेदत्व'** ग्रन्थ आज प्रकाश में आया है जो **'पुराणं पञ्चमो वेदः'** के कथन को पुष्ट करने के साथ ही जिज्ञासुओं, गवेषकों एवं समीक्षकों को एक नवीन दृष्टि प्रदान करेगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मुझ अकिञ्चन को जो दायित्व दिया गया, उसमें मैं दीर्घसूत्री सिद्ध हुआ इसके लिए आचार्यचरणों में सादर प्रणति के साक्ष क्षमा प्रार्थना करता हूँ।

11 मार्च 2010

प्रो. ताराशंकर शर्मा 'पाण्डेय'
सम्पादक
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष- साहित्यविभाग
ज.रा.राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
जयपुर

पुराणी वाणी

संस्कृत वाङ्मय का पुराण-साहित्य भारतीय संस्कृति के भव्य प्रासाद का एक अद्भुत दृढ आधार स्तम्भ है जिसे विचलित करने हेतु अनेक संस्कृति-आक्रान्ताओं ने भ्रान्तिमूलक, सन्दिग्ध, जनमानस को उद्वेलित करने वाली विभिन्न निराधार विचार-सरणियों को प्रस्तुत किया, मिथक के रूप में प्रचारित प्रसारित किया किन्तु श्रद्धातिरेक से अभिभूत भारतीय जनता ने इन्हें प्रत्याख्यापित करते हुए अपनी धरोहर को अत्यधिक जीवटता से संरक्षण एवं संवर्धन प्रदान किया, परिणामतः आज पुराण-साहित्य ने मूर्धन्य मनीषियों के सतत अनुसन्धानों, समालोचनाओं एवं अथक प्रयासों से अपने वैभव को निखारते हुए विविध आयामों के साथ नवीन दृष्टि प्राप्त की है। इस कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वालों में स्वनामधन्य समीक्षाचक्रवर्ती पं. श्री मधुसूदन ओझा जी, व्याख्यानवाचस्पति पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी जी, पं. भगवद्दत्त, श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि प्रमुख हैं, इन्होंनें पुराणों के मर्मगत अभिधेय विषयों को न केवल समझा अपितु अन्तर्निहित विवक्षाओं, अभिव्यञ्जनाओं एवं विविध शास्त्रेतर व्याख्येय विषयों के सामञ्जस्य को संस्कृतेतर साधारण जिज्ञासु लोक को भी अवगत करवाने के लिए मनसा, वाचा तथा कर्मणा लोकातिशय प्रयास किये जिससे जनमानस पटल पर श्रद्धा के अमिट शिलालेख अंकित हो गये। यह कार्य वर्ष दो वर्ष के प्रयासों का फल नहीं है अपितु सहस्राब्दियों से किये जा रहे निरन्तर स्वाध्याय, अध्ययन, अध्यापन से की जा रही शिष्यपरम्परा की विद्या-संक्रान्ति का मधुर अमृतमय फल है।

पुराण भारतीय धर्म एवं विद्याओं के चौदह स्थानों में परिगणित होने से अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। ऋषिदयानन्द की परम्परा का निर्वहन करने वाले आर्यसमाजीय विचारकों ने पुराण खण्डन के सन्दर्भ में बहुविध लिखा इसके साथ ही स्वामी श्रीकरपात्री जी एवं अन्य विद्वानों ने पुराण विषयक अनेक ग्रन्थ लिखकर पुराणों की महत्ता प्रतिपादित की। इस प्रकार खण्डन-मण्डन की इस शैली ने पुराण-साहित्य को बहुत विस्तार दिया परन्तु फिर भी पुराण का यथार्थ-स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जा सका, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति को दृष्टिगत रखते हुए ही इस जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय में अनुसन्धान को नवीन दिशा देने के दृष्टिकोण से स्थापित विभिन्न पीठों में से एक साहित्य-पीठ के अध्यक्ष पूज्यपाद आचार्य पं. अनन्त शर्मा जी ने अपने सद् अध्यवसाय एवं गम्भीर चिन्तन से पुराण वाङ्मय पर जो कुछ लिखा वह इस प्रकृत ग्रन्थ **पुराण दर्शन समग्र दृष्टि** का स्वरूप है तथा **'पुराणों का वेदत्व'** सिद्ध करने का प्रबल आधार एवं पक्षधर है।

ऐसे महनीय इस ग्रन्थ के सम्पादन का गुरुतर दायित्व मुझ जैसे अकिञ्चन प्राणी को सौंपा गया जो वेद को तो आपततः भी शायद ही समझ सका हो तथा पुराणों के मर्म को स्पर्श करने वालों की श्रेणी में भी पश्चाद्वर्ती सिद्ध हो सकता है परमपि आचार्यचरण पितृतुल्य पं. श्री अनन्त जी की कृपादृष्टि **'भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः'** इस भारवि के कथन को चरितार्थ करती हुई मेरे किसी पुण्योदय के अंश को अभिव्यक्त करती है, इसके लिए मैं सर्वदैव आपका अधमर्ण रहूँगा क्योंकि इससे मुझे वैदिक वाङ्मय एवं पुराण-साहित्य से निकटतया जुड़ने का अवसर प्राप्त हुआ, अस्तु।

किसी भी ग्रन्थ का भूमिका का भाग उसके आत्मतत्त्व को प्रस्तुत करता है जिससे प्रबुद्ध पाठक वर्ग अभिप्रेरित हो सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययनार्थ उन्मुख होता है।

वेदों की रचना -

वेद मन्त्रों के दर्शन, रचना अथवा लिपिबद्ध होने के सम्बन्ध में इनकी अपौरुषेयता उत वा पौरुषेयता को लेकर विद्वानों में मत भेद प्रारम्भ से ही आज तक चले आ रहे हैं। ब्रह्मा के मुख से आविर्भूत तात्त्विक वेदों का दर्शन ऋतम्भरा के धनी ऋषियों ने किया अत एव कतिपय विद्वानों ने **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो न तु कर्त्तारः'** का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। परन्तु आज के विज्ञान वाद में भौतिकवाद की पराकाष्ठा के स्पर्शमात्र से अपने आपको पण्डितम्मन्य वैज्ञानिक वेद-मन्त्रों के दर्शन की सत्यता को दूर से ही नकारने में अटूट विश्वास रखते हैं परिणाम स्वरूप वेद वेद न होकर ज्ञान के सामान्य भण्डार माने जाने लगे हैं और इसी सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण संसार के विद्वानों ने ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम लिपिबद्ध ग्रन्थ स्वीकार कर अपने अहं को तुष्ट किया है। परमपि सत्यता कुछ और ही है जो इनकी स्थूल बुद्धि से परे है। इस प्रासंगिक सत्यता को समझने के लिए सूक्ष्म एवं गम्भीर चिन्तनात्मक प्रज्ञा की आवश्यकता है जो प्रायः सभी में नहीं होती। वेदों की अपौरुषेयता के इस प्रसंग में ऋषियों की सी ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यह सुनिश्चित कर सकती है कि वेद अपौरुषेय है अथवा पौरुषेय। सामान्यतः सृष्टि के स्थूल पदार्थों की संरचना में पुरुष का बहुत बड़ा योगदान है यही कारण है कि पुरुष ने प्रकृति के समस्त पदार्थों में अपने ही पुरुषार्थ को ढूँढना प्रारम्भ कर दिया और सृष्टि के प्रारम्भ से ही अपनी सत्ता को स्पष्टतः सम्पादित करने वाले वेदों में भी अपने ही पुरुषार्थ का अन्वेषण करते हुए उसे सिद्ध कर रहा है। परन्तु यह सत्य से कहीं परे है। अपौरुषेय रूप तात्त्विक सत्य का प्रतिपादन तो भारतीय संस्कृति में श्रद्धास्पद समस्त वर्ग करता है और इस सन्दर्भ में किसी भी तर्क की सुश्रूषा नहीं रखता परन्तु इसे सिद्ध करने में वह कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत करने में सक्षम भी नहीं है। इस सन्दर्भ में मेरी दृष्टि से ठोस तर्कसम्मत प्रमाण प्रस्तुत किया है जयपुर के ही वास्तव्य

समीक्षा-चक्रवर्ती पं. मधुसूदन ओझा जी के ही पट्टशिष्य एवं उनके दर्शन के प्रसारक, महाराज संस्कृत कॉलेज जयपुर में दीर्घकाल तक प्राचार्यत्व वहन करने वाले तथा भारत के महामहिम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से सर्वप्रथम सन् १९५८ में काशी के विद्वानों की सर्वसम्मति से सम्मान प्राप्त व्याख्यान वाचस्पति पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने अपने ग्रन्थ '**वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति**' में। हमारे शास्त्रकारों द्वारा वाक् शक्ति के चार स्वरूप निर्धारित किये गये हैं:- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वाक् शक्ति के प्रथम स्वरूप 'परा' को आत्मा की मुख्य शक्ति माना गया है जिसका कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता? दूसरी 'पश्यन्ती' वह वाक्स्वरूप है जिसे प्रकाशरूप कहा गया है, इसमें शब्द और अर्थ दोनों युगपत् रूप में रहते हैं, इन दोनों का विभाग नहीं किया जा सकता यही स्वरूप वागर्थ रूप अर्धनारीश्वर शिव का रूप है। 'मध्यमा' स्वरूप में शब्द और अर्थ का विभाग तो हो जाता है परन्तु शब्द मन ही मन में विवर्त रूप में रहते हैं जिसे वाक्यपदीय में स्पष्ट किया है -

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।

ऐसी स्थिति में कण्ठ, तालु आदि का कोई व्यापार नहीं होता अतः उन शब्दों को कोई सुन नहीं सकता। लोक में ऐसी स्थिति को मन ही मन में अथवा स्वयं से बात करना कह सकते हैं। आत्मा ने ऋषियों पश्यन्ती और मध्यमा वाणी में ही वेदों को प्रकट किया और उन्होंने वैखरी, वाणी द्वारा शिष्य प्रशिष्यों में प्रचारित किया।

वाक् शक्ति के इस विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि वेद अपौरुषेय हैं जो ऋषियों की पश्यन्ती और मध्यमा वाणी में आविर्भूत हुए अतः इनकी अपौरुषेयता के विषय में सन्देह की कोई गुंजाईश नहीं है।

इस सत्य को प्रकृत ग्रन्थ में समीक्षा-चक्रवर्ती श्री ओझा जी के अनुसार पं. अनन्त जी ने इस रूप में प्रस्तुत किया है - "**वेद के दो रूप है - शब्द रूप तथा प्रतिपाद्य रूप। शब्द रूप को वाङ्मय वेद कहा**

जा सका है तथा प्रतिपाद्य रूप को तत्त्ववेद।'' भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत वाङ्मय में श्रद्धास्पद विद्वानों का प्रायशः यही मत है कि ज्ञान रूप वेद अपौरुषेय है और स्थूल शब्दरूप वेद पौरुषेय जो बाद में लिपिबद्ध हुआ। वेद अपौरुषेय उत वा पौरुषेय चाहे जो भी हो परन्तु वेद आज सर्वजन हेतु सर्वत्र सुलभ हैं।

वेदों की संख्या–

वेदों का निर्माण कब कैसे और किनके द्वारा हुआ यह अलग प्रश्न है परन्तु वर्तमान में वैदिक वाङ्मय विविध रूप में उपलब्ध हो रहा है, इस सन्दर्भ में एक विचार उपस्थित होता है कि वास्तविकरूप में वेदों की संख्या कितनी है। मैं यहाँ वेदों की प्राप्त या अप्राप्त शाखाओं की बात न कर केवल वेदों की संख्या के बारे में चर्चा करना चाह रहा हूँ।

ऋतम्भरा प्रज्ञावान् ऋषियों ने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया वह अक्षरशः आज भी अक्षुण्ण रूप से वेदों के रूप मे सुरक्षित है। यह वेद प्रारम्भ में एक युगपत् सत्ता के रूप में तथा बाद में विभक्त रूप में प्राप्त हुआ? कतिपय विद्वानों की दृष्टि में इस विभाजन का कर्त्ता ब्रह्मा है तथा कुछ लोग भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को स्वीकार करते हैं। वर्तमान चतुर्युगी के तीसरे युग–द्वापर में भगवान् वेदव्यास ने सरस्वती के तट पर अपनी अलौकिक प्रतिभा से एक वेद को चार भागों में विभक्त किया –

व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै: वेदमेकं चतुर्विधम्॥
ऋग्यजु:सामथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृता।
इतिहास: पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥

–भागवत १/४/१९–२०

इस प्रसंग में वेदत्रयी का भी उल्लेख मिलता है जिसमें ऋग्, यजुः, साम की गणना की है तथा बाद में अथर्ववेद के सम्मिलित होने पर वेद चतुष्टयी कही जाने लगी। इस सन्दर्भ में पं. अनन्त जी शर्मा ने विपुलमात्रा में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। यह तो वेद मन्त्रों की रचना के आधार पर लिखे साहित्य के विभाजन का क्रम है। परन्तु अर्थ की दृष्टि से वेदों की संख्या निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है जिसे '**अनन्ता वेदाः**' के रूप में व्यक्त किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य ही वेदों का पुराणत्व है।

वेद या मन्त्र संहिताओं में ज्ञान का विपुल भण्डार है यह ध्रुव सत्य है प्ररन्तु परवर्ती मनीषियों द्वारा रचित ज्ञान विज्ञान के साहित्य को भी वेद नाम से अभिहित किया गया है भले ही वह वैदिक भाषा शैली में नहीं लिखा गया, इनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद के की गणना की जा सकती है जिन्हें बाद में उपवेद की संज्ञा दी गई एतदनुरूप ही इतिहास–पुराण के रूप में परिगणित वेद व्यास का महाभारत और भरतमुनि का नाट्यशास्त्र तो पञ्चम वेद के रूप में ही स्वीकार ही किया गया है। वेदों की संख्या के सन्दर्भ में छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार के प्रति नारदक की यह उक्ति प्रमाण है –

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदम्।
अथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्॥

इस प्रकार वेद चतुष्टयी के बाद भारत में ज्ञान विज्ञान निधि को 'वेद' शब्द से कहने की परम्परा सी बन गई है और पञ्चम वेद के रूप में इतिहास–पुराण, महाभारत, नाट्यशास्त्र, ज्योतिष, तथा स्थापत्य शास्त्र को जाना जाने लगा। इस प्रकार मन्त्र संहिताओं के अतिरिक्त वेदों की

संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही और यह संख्या दस तक पहुँच गई इसके प्रमाण ब्राह्मण ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से मिलते हैं। अश्वमेध के प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण–तेरहवें काण्ड के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में एक निश्चित क्रम में दस वेदों की गणना की गई है–

इस ब्राह्मण में क्रमशः १. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. अथर्ववेद, ४. अङ्गिरसवेद विद्या ५. सर्पवेद, ६. देवजनविद्या वेद, ७. मायावेद, ८. इतिहास वेद, ९. पुराण वेद और १०. सामवेद की गणना प्रतिपादित की गई है। इस तरह भारत में विद्या को प्रायः वेद कहने की परम्परा रही हैं। आगे चलकर यही परम्परा संख्यात्मक दृष्टिकोण से या फिर ज्ञान की अनन्तता के कारण तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/१०/११) में **'अनन्ता वै वेदाः'** के रूप में स्वीकार कर ली गई।

पुराणों का वेदत्व -

प्राचीन भारतीय संस्कृत वाङ्मय में वर्णित इतिहास और पुराण की संयुति को पृथक् कर लेना अतीव दुष्कर सा प्रतीत होता है क्योंकि यत्र तत्र सर्वत्र ही ग्रन्थों में इतिहास और पुराण वर्णन को नीरक्षीरवत् सम्मिलित करके वर्णित किया गया है। अतः पुराण साहित्य एवं महाभारत दोनों को ही पञ्चम वेद के रूप में परिगणित किया गया है।

इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥

–भागवत १/४/२०

संस्कृत वाङ्मय में यत्र तत्र उद्धृत पुराणों के 'पञ्चम वेद' की इसी सूत्ररूप अवधारणा को आधार मानकर सम्पूर्ण पुराण वाङ्मय को महर्षि अगस्त्यवत् चुलुकपान करने वाले पं. अनन्त शर्मा जी के अन्तर्मन में एक विचार–सागर तरंगित हुआ और उन्होंने पुराणों का वेदत्व प्रतिपादन करने के उद्देश्य से ग्रन्थ की रचना की। इसके लिए आपने वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् महाभारत स्मृतिग्रन्थ आदि शतशः ग्रन्थों से

उद्धरण देते हुए पुराणों का वेदत्व सिद्ध किया है जिसे शायद ही कोई विद्वान् नकार पाये क्योंकि आप्तवक्ताओं के वचन के आधार पर प्रस्तुत विचार सरणि को शिरोधार्य करना सद् विवेकी पुरुषों के लिए शोभादायक रहता है।

आचार्य मम्मट के अनुसार सुहृत् शैली से उपदेश प्रदान करने वाले पुराणों का औदार्य तो संस्कृत जगत् पूर्व में ही स्वीकार कर चुका है। आशा है **'पुराण दर्शन समग्र दृष्टि'** के प्रथम भाग के रूप में **'पुराण का वेदत्व'** संस्कृतज्ञों, जिज्ञासुओं एव संस्कृतानुरागियों में एक नवीन चेतना का संचार करेगा।

11 मार्च 2010

प्रो. ताराशंकर शर्मा 'पाण्डेय'
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष– साहित्यविभाग
ज.रा.राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
जयपुर

पुराण दर्शन समग्रदृष्टि
प्रथम भाग - पुराण का वेदत्व

समस्त विद्याओं तथा अखिल धर्म की प्रतिष्ठा वाले १४ स्थानों की गणना भगवान् याज्ञवल्क्य ने निम्नलिखित रूप से की है :—

१ **पुराण - न्याय - मीमांसा - धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।**
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

याज्ञ. स्मृ. उपोद्घात. ३

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः वेदाङ्ग तथा ४ वेद, ये १४ शास्त्र विद्याओं तथा धर्म के स्थान हैं। गणना का आरम्भ ही पुराण से होने से विद्या तथा धर्म के स्रोत के रूप में पुराण की महत्ता स्पष्टरूप में इस कथन से विदित होती है।

श्रुति, स्मृति धर्म का ज्ञान कराते हैं। इस ज्ञान में सहायक हैं। न्याय और मीमांसा से युक्तायुक्तत्व के बोध द्वारा ग्राह्य और हेय की स्पष्ट प्रतिपत्ति होती है। इसके पश्चात् धर्म के अनुवर्तन के लिए सदाचार तथा आत्मतुष्टि का स्थान है। सदाचार के ज्ञान का स्रोत पुराण है तथा अपनी शैली से सुहृत् होकर आत्मतुष्टि का पथ प्रशस्त करता है। यही कारण है कि इसे प्रथम स्थान पर लिया गया है।

इसे केवल महर्षि याज्ञवल्क्य का अपना विचार अथवा मत नहीं कह सकते हैं। समाज में देखने को मिलता है कि चिरकाल से पुराण कथा इस देश में होती आ रही है। कोई छोटे-से-छोटा ग्राम अथवा बड़े-से-बड़ा नगर ऐसा नहीं है जहाँ यह कथा न हुई हो अथवा न होती हो। आज तो पुराण कथा की बाढ़-सी आ गई है। लाखों श्रोताओं की भीड़ में महानगरों में यह चलती है।

इसे देखकर यह भी निर्णय लेना उचित नहीं होगा कि अशिक्षित, अल्पशिक्षित, श्रद्धालुओं के लिये ही यह आयोजन होता रहा है। वेद वेदाङ्गों के महान् विद्वान् गृहपति शौनक के आश्रम में सहस्रों ऋषियों को भी पुराण-विचक्षण सूत द्वारा सामान्य अवसरों पर तथा कभी-कभी दीर्घसत्रों के अवसर पर विशेषरूप से सुनाने की परम्परा का उल्लेख महाभारत तथा वायु आदि पुराणों में है।

इसी भाँति अश्वमेध यज्ञ में पूरे वर्ष भर १०-१० दिन के पारिप्लव आख्यान की ३६ बार आवृत्ति का विधान शतपथ ब्राह्मण में है। १० दिन में ऋगादि १० वेदों का जिनमें नवम क्रम में पुराण है, सुनाना पारिप्लवाख्यान है। इसे ही वेद कथा कहा जाता है। इस प्रकार पुराणाख्यान की यह परम्परा चिरकाल से प्रचलित तथा वेदादिशास्त्र-सम्मत प्रमाणित होती है। याज्ञवल्क्य के शतपथादि के ये विचार ही उनकी स्मृति के इस पद्य में निबद्ध हुए हैं। पुराण की महत्ता पुराणों की विपुल संख्या से एवम् उन पर विद्वानों की टीकाओं की बहुलता से भी प्रमाणित होती है। मध्यकाल के धर्म मीमांसा परक विपुलकाय प्राय: सभी निबन्ध ग्रन्थों में पुराण वाङ्मय से पर्याप्त सहायता ली गयी है जिससे अनेक विषयों के निर्णायकमत की स्थापना उनमें हुई है। ऐसे निबन्धों में कृत्यकल्पतरु, चतुर्वर्गचिन्तामणि, वीरमित्रोदय तथा स्मृतिचन्द्रिका प्रमुख हैं।

आधुनिक युग में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों द्वारा पुराणों पर पर्याप्त कार्य किया गया है। इससे शोध की आधुनिक पद्धति के माध्यम से पुराणों का सुसम्पादित प्रकाशन होने के साथ-साथ समालोचनात्मक भूमिकाओं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों से अनेक विषयों पर सुन्दर विवेचन हुआ है।

ऋषि दयानन्द के पुराण विषयक विचारों को लेकर आर्य विद्वानों ने पुराण खण्डन के उद्देश्य से बहुत कुछ लिखा है तथा अनेक शास्त्रार्थ भी किये हैं। श्री करपात्री जी जैसे विपश्चित्-शिरोमणियों के नेतृत्व में पौराणिक विद्वानों ने भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं तथा शास्त्रार्थ भी किये हैं। खण्डन-मण्डन की दृष्टि और उद्देश्य की प्रधानता से रचित इन ग्रन्थों से पर्याप्त सामग्री तो मिली है किन्तु पुराण के यथार्थ स्वरूप को ये दोनों ही पक्ष यथावत् रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं।

इन दिनों उपाधिलक्ष्यक शोध ग्रन्थ भी प्रचुर मात्रा में लिखे जा रहे हैं। यद्यपि इनसे साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में विपुल संख्यक ग्रन्थराशि प्रकाश में आ रही है यद्यपि पुराण के स्वरूप की महत्ता इन सभी प्रकार के कार्यों से व्यक्त होती है किन्तु स्वरूप निरूपण अब भी प्रतीक्षा की घड़ियाँ गिन रहा है।

पुराण के सभी पक्षों को लेकर समाधानपरक निर्णायक विचार दृष्टि में न आने से इस दिशा में यह प्रवृत्ति है। इस पृष्ठभूमि पर आधारित यह विनम्र प्रयास सामान्य एवं सम्मान्य पाठकों की सेवा में समर्पित है।

वेद, वैदिक तथा वेदेतर वाङ्मय के परिशीलन से पुराण का जो स्वरूप प्रत्यक्ष होता है वह निश्चय ही आज के जाने-माने स्वरूप से सर्वथा विलक्षण है। पुराण सम्बद्ध

दो अतिवादी विचारधाराओं से मुक्त यह स्वरूप पुराणाध्ययन की दिशा में जिज्ञासुओं की गति में साथी बने तथा हितावह हो जिससे ज्ञान का यह प्रस्थान प्रतिष्ठित हो, यह कामना इस निबन्ध के मूल में है।

पुराणेतर तथा पुराण वाङ्मय में परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं। एक ओर पुराण के स्वाध्याय को अनिवार्य बताया जाता है तो दूसरी ओर उसका अध्ययन पातक अत एव हेय बताया जाता है। पुराण को वेद से भी श्रेष्ठ बताने वाले वचन भी कम नहीं है तो पुराणों की वेदानुवर्तिता वेद सम्मितता बताकर उन वचनों की निरर्थकता घोषित करने वाले वचन भी उसी परिमाण में हैं। पुराण वेदव्यास कृष्णद्वैपायन की उपज्ञा हैं तथा उन्हीं के प्रवचन सब पुराण हैं। दूसरी ओर अनेक महर्षियों तथा ब्रह्मा की रचना भी ये पुराण हैं ऐसे ही शतशः वचन इन्हीं पुराणों में हैं।

अध्येता अपनी श्रद्धा तथा रुचि के अनुकूल पक्ष के वचनों को चुन लेता है, विरोधी वचनों के प्रति मौन रहता है। शास्त्रानुशीलन की मर्यादा दोनों पक्षों पर विचार तथा समुचित समाधान की अपेक्षा रखती है।

भगवान् स्वायम्भुव मनु कहते हैं :—

२ **स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।**
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च ।। ३/२३२

पितृकार्य में स्वाध्याय, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण और खिल सुनाने चाहिये।

इसी भाँति महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है :—

३ **वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।**
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्।। १/१०१

ऋगादि त्रयी, अथर्ववेद, पुराण, इतिहास तथा आध्यात्मिक विद्या का जप अर्थात् स्वाध्याय-यज्ञ की उत्कृष्ट सिद्धि के लिए शक्ति के अनुसार सतत अनुशीलन- करें।

इसी भाँति भूतभावन, महायोगी दत्तात्रेय अपने शिष्य मुनिवर सांकृति के प्रश्न के उत्तर में अष्टांग योग का उपदेश देते हुए 'जाबालदर्शनोपनिषत्' में कहते हैं :—

४ **कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके।**
इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया ।। २/१२

कल्पसूत्र, वेद, धर्मशास्त्र, पुराण तथा इतिहास में विद्यमान जो मानसीवृत्ति है, उसे मैं जप कहता हूँ। अब इन वचनों के बाधक विपरीत वचन भी द्रष्टव्य हैं। भगवान् मनु का ही अनुशासन है :—

५ **योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। २/१६८

जो द्विज वेद न पढ़कर अन्य शास्त्रों में श्रम करता है, वह जीते जी अपने वंश सहित शीघ्र ही शूद्रभाव को प्राप्त हो जाता है।

ऐसा ही कथन भगवान् याज्ञवल्क्य का है :—

६ **यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम्।**
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।। आचारा. ४०

विविध यज्ञों में नाना प्रकार के तपों में तथा सभी शुभ कर्मों में केवल वेदस्वाध्याय ही द्विजातियों का सर्वोत्कृष्ट निःश्रेयस कारक है।

अत्रिसंहिता में शास्त्रादि के अभ्यास को उत्तरोत्तर न्यून बताया गया है :—

७ **वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।**
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति ।। ३८२

वेदों से विहीन लोग शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्र से हीन पुराण पाठक होते हैं। पुराण में भी जिनकी गति नहीं है, वे कृषक होते हैं, कृषकत्व से भी गिरे लोग भागवत होते हैं। यहाँ कृषक शारीरिक श्रम का उपलक्षण है जिसमें छोटा-मोटा व्यापार, नौकरी-चाकरी आदि समाविष्ट हैं। भागवत का सामान्य अर्थ है तत्त्वज्ञान शून्य, नाम मात्र की भक्ति जो निष्प्राण नाम जप तक सीमित है और निकम्मेपन की ओर ढकेलती है उसका अनुयायी भागवत है।

सामान्य प्रश्न उठना चाहिए कि साक्षात्कृतधर्मा मनु और याज्ञवल्क्य जैसे आप्त पुरुषों ने वदतो व्याघात रूप में वचन क्यों कहे। क्या हमें विचार नहीं करना चाहिये कि ये वस्तुतः वदतोव्याघात हैं भी अथवा नहीं। पक्ष-विपक्ष में हेतु पुरस्सर निर्णायक विचार कर इनकी एकवाक्यता अथवा निस्सारता प्रमाणित करना हमारा उत्तरदायित्व नहीं है?

स्वयं पुराण भी अपने विषय में ऐसे ही परस्पर विरोधी भाव प्रकट करते हैं। कूर्मपुराण के ऐसे ही दो पद्य यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :—

८ **अष्टादश पुराणानि व्यासाद्यैः कथितानि तु।**
नियोगाद् ब्रह्मणो राजँस्तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः।। १२/२६८.

अन्यान्युपपुराणानि तच्छिष्यैः कथितानि तु।
युगे युगेऽत्र सर्वेषां कर्ता वै धर्मशास्त्रवित्।। २६९

भवगती उमा पर्वतराज हिमालय को कह रही है कि राजन्! ब्रह्मा के नियोग से व्यास आदि ने १८ पुराण कहे हैं, उनमें धर्म प्रतिष्ठित हैं। उन्हीं के शिष्यों ने अन्यान्य उप पुराण भी प्रत्येक युग में कहे हैं। इन सब का कर्ता (रचयिता) धर्मशास्त्र का ज्ञाता रहा है।

यहीं इस प्रस्तुत पुराण के इसी प्रकरण में एक अन्य पद्य भी है जो इससे सर्वथा भिन्न बात कह रहा है :—

९ **न च वेदादृते किञ्चिच्छास्त्रं धर्माभिधायकम्।**
योऽन्यत्र रमते सोऽसौ न सम्भाष्यो द्विजातिभिः।। १२/२६०

वेद के बिना अन्य कोई शास्त्र धर्म का अभिधायक = कथन करने वाला नहीं है। जो वेद से भिन्न शास्त्र में रमता है, ऐसे उस व्यक्ति से द्विजातियों को सम्भाषण नहीं करना चाहिए।

पुराणों को प्रमत्तप्रलाप मानकर भी समस्या से मुख नहीं मोड़ा जा सकता है। पूर्वोद्धृत मनु, याज्ञवल्क्य तथा अत्रि के कथन को यदि इस कोटि में नहीं रखा जा सकता है तो पुराणों का ही क्या अपराध है? फलतः पुराण के इन वचनों को यादृच्छिक कहते हुए तिरस्कृत नहीं किया जा सकता है।

पुराणादि १८ शास्त्रों को विद्या और धर्म का स्थान घोषित करने वाले याज्ञवल्क्य के मत में बृहद्धर्मोपपुराण के निम्नलिखित कथन को असत् कैसे कहा जा सकता है जो अन्य ग्रन्थों के साथ पुराणों की सृष्टि धर्म के लिये ही बता रहा है :—

१० **रामायणं पुराणानि महाभारतमेव च।**
मन्वादिधर्मशास्त्राणि धर्मार्थानि सदैव हि ।।१.२५.३३

रामायण, पुराणग्रन्थराशि, महाभारत तथा मनु आदि के धर्मशास्त्र, सदैव धर्म के निमित्त ही हैं।

इसी भाँति पुराणों की महत्ता बताने वाले वचनों में पुराण को वेद से भी अधिक श्रेष्ठ बताया गया है, वेद की प्रतिष्ठा पुराणों में बतायी गयी है, सर्वज्ञता की प्राप्ति पुराणों से ही होती है, पुराण से अनभिज्ञ विचक्षण नहीं हो सकता है। पुराण-सृष्टि वेद से भी पूर्व में हुई है। यह भी पुराणों की घोषणा है।

११ **वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने!।**
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ।। २/१४/१७

नारद पुराण के इस पद्य में स्पष्ट कहा गया है कि हे वरानने! मैं पुराणार्थ को वेदार्थ से अधिक मानता हूँ। सभी वेद पुराण में प्रतिष्ठित हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है।

स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में कहा गया है :—

१२ **वेदाः प्रतिष्ठिताः पूर्वं पुराणे नात्र संशयः।**
आत्मा पुराणं वेदानां पृथगङ्गानि तानि षट्।।

यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभिः किल।
उभाभ्यां यन्न दृष्टं हि तत्पुराणेषु गीयते।। १/२२, २३

वेद प्रथमरूप से पुराण में प्रतिष्ठित हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। वेदों की आत्मा पुराण हैं, प्रसिद्ध छः अंग पृथक् हैं। वेदों में जो कुछ नहीं देखा गया है वह निश्चित ही स्मृतियों में देखा गया है। वेद एवं स्मृति के द्वन्द्व से जो नहीं देखा गया है वह पुराणों में गाया गया है।

मत्स्य पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों के पूर्व पुराण का स्मरण किया इसके पश्चात् उनके मुख से वेद उच्चरित हुए :—

१३ **पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।**
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।
मीमांसा न्यायविद्याश्च प्रमाणाष्टकसंयुता।। ३/३, ४

ब्रह्मा ने सर्व शास्त्रों के पहले पुराण का स्मरण किया जो नित्य शब्दमय तथा शतकोटि विस्तार वाला था। इसके पश्चात् उनके मुख से वेद, मीमांसा तथा अष्ट प्रमाण वाली न्याय विद्या प्रकट हुए।

यही कथन वायुपुराण में निम्नलिखित रूप में है :—

१४ **प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्।**
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।। १/६०

ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से प्रथम पुराण का स्मरण किया। इसके पश्चात् उनके मुख से वेद निकले उच्चारण के रूप में।

विचक्षणता पुराण बिना सम्भव नहीं है :—

१५ **यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः ।**
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः।। १/२००

वायु पुराणीय इस पद्य का अर्थ सरल ही है कि हे द्विजों! जो षडङ्ग तथा उपनिषद् युक्त चारों वेदों का ज्ञाता है किन्तु पुराण का ज्ञान नहीं रखता है तो वह विचक्षण (विद्वान्) नहीं बन सकता है।

शब्दान्तर भेद से यही बात पद्म पुराण के सृष्टिखण्ड में कही गयी है :—

१६ **पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।**
उत्तमं सर्वलोकानां सर्वज्ञानोपपादकम्।। १/४५

सभी लोगों को सब प्रकार का ज्ञान देने वाले अतएव उत्तम पुराण का ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों के पूर्व स्मरण किया।

सृष्टिखण्ड का ही २/५१वां पद्य पूर्वोद्धृत वायुपुराण के १/२०० पद्य के रूप में है।

स्कन्द पुराण रेवाखण्ड में भी ये विचार इस रूप में प्रकट हुए हैं :—

१७ **यो न वेद पुराणं हि स न वेदात्र किञ्चन।**
कतमः स हि धर्मोऽस्ति किं वा ज्ञानं तथाविधम्।
अन्यद् वा किमत्राह पुराणे यन्न दृश्यते।। १/१९, २०

जो पुराण नहीं जानता है वह कुछ भी नहीं जानता है। कौनसा वह धर्म है, कौनसा और कैसा वह ज्ञान है, और भी वह क्या विषय सम्भव है जो पुराण में नहीं है।

पुराणों में अन्यत्र भी इस प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं, निदर्शन रूप में इतना ही पर्याप्त है, अधिकाधिक उद्धरण से ग्रन्थ कलेवर वृद्धि का भय है।

सम्भवतः पुराणकार अपने इन विचारों के महत्त्व को भूल गये और वेदापेक्षया पुराणों की गौणता वाले वचन भी कहते चले गये ऐसा लगता है। नीचे उद्धृत कुछ वचन द्रष्टव्य हैं। मत्स्यपुराण में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में शौनक का यह वचन है :—

१८ **एतत् ते कथयिष्यामि पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।**
महावराहचरितं कृष्णस्याद्भुतकर्मणः।। २४७/५

मैं तुम्हें अद्भुत कर्म वाले कृष्ण का महावराह चरित कह रहा हूँ, यह पुराण ब्रह्म अर्थात् वेद के तुल्य है।

उपमान प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ होता है तुला का साधकतम होने से। पुराण की अर्हता को ब्रह्म के तुल्य बताने से ब्रह्म की अर्थात् वेद की अर्हता शौनक के मुख से स्वतः ही प्रकट हो रही है।

यदि ब्रह्म का अर्थ वेद न लेने का आग्रह हो, जो होना नहीं चाहिये वाङ्मय की तुलना के वाङ्मय से ही न्याय्य होने से, तो साक्षात् 'वेदसम्मित' पद घटित प्रस्तुत हैं :—

१९ **पराशरश्च भगवान् जातूकर्ण्यमृषिं पुरा।**
तमध्यापितवान् दिव्यं पुराणं वेदसम्मितम्।। १/१०

ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वभाग) के इस पद्य का शब्दानुवाद है कि भगवान् पराशर ने पूर्वकाल में उन जातूकर्ण्य ऋषि को वेदसम्मित यह दिव्य पुराण पढ़ाया।

२० **पुराणं संप्रवक्ष्यामि मारुतं वेदसम्मितम् ।।** वायु पुराण ४/१२

व्यास शिष्य लोमहर्षण शौनकादि ऋषियों को कह रहे हैं कि मैं वेदसम्मित मारुत पुराण अर्थात् वायुपुराण कह रहा हूँ। आगे जाकर इसी पुराण में इसे वेदसम्मत अर्थात् वेदों से मान्यता प्राप्त भी कहा गया है :—

२१ **धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मतम्।**
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिनः।। १०३/५१

श्री कृष्णद्वैपायन द्वारा ब्रह्मवादियों को कहा गया यह पुराण धन्य, यशस्कर, आयुवर्धक, पुण्य तथा वेदों से सम्मत है।

देवी भागवत का कथन है कि वेदाधिकार वंचितों के लिए पुराण सृष्टि हुई है :—

२२ **स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।**
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च।। १.३.२१

स्त्री, शूद्र तथा नामधारी द्विजों के लिये वेदश्रवण विहित नहीं है। उन्हीं के हित के लिए पुराण रचे गये हैं।

इससे दो बातें तो सर्वथा स्पष्ट हैं कि पुराणों की रचना वेद के पश्चात् हुई है। साधारण मति वाले तथा द्विजत्व संस्कार शून्य लोगों के कल्याणार्थ रचे गये पुराण सर्वज्ञानाकर नहीं हो सकते हैं अतः उनसे वैचक्षण्य प्राप्ति दुर्लभ है।

वेद तथा युग के स्वरूप की अनुवृत्ति पर भगवान् ब्रह्मा द्वारा पुराण कलेवर की रचना का स्पष्ट निर्देश भी वायु तथा ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में है जो स्पष्टतः पुराण की परवर्तिता का उद्घोषक है यथा :—

२३ **यथा वेदश्चतुष्पादश्चतुष्पादं तथा युगम्।**
यथा युगं चतुष्पादं विधात्रा विहितं स्वयम्।
चतुष्पादं पुराणं तु ब्रह्मणा विहितं पुरा।। वायु. ३२/ ३७

जैसे वेद ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व रूप से चतुष्पाद है वैसे ही युग भी सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार पादों वाला होने के चतुष्पाद है। विधाता ने स्वयम् जैसे वेद के अनुसार युग को चार पादों वाला बनाया है वैसे ही प्राचीन काल में ब्रह्मा (विधाता) ने पुराण को भी चतुष्पाद बनाया है।

इतिहास, पुराण, वेद के उपबृंहण के लिये ही प्रवृत्त हुए हैं, फलतः इनकी वेदानुकूलता तथा वेद परवर्तिता सुस्पष्ट है। एतद्विषयक उक्ति जो भगवान् व्यास ने महाभारत के आदिपर्व में दी है, अति प्रसिद्ध है :—

२४ **इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।**
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।। १।।

इतिहास और पुराण से वेद के अर्थ का उपबृंहण करना चाहिए। अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भय करता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा।

पुराणों में तथा स्मृतियों में इस पद्य की अनेकधा आवृत्ति हुई है। पद्मपुराण सृष्टि खण्ड २/५२, स्कन्द पुराण रेवाखण्ड १/२१, वायु पुराण १/२०१ लघु व्यास स्मृति २/७२, वसिष्ठ स्मृति २७/६, अत्रिस्मृति ३/७ में भी यह पद्य मिलता है।

ऐसे विरोधी और भी विषय हैं। यहाँ केवल एक विषय प्रस्तुत कर विरोधाभास के प्रकरण को पूरा किया जा रहा है।

प्रसिद्ध है कि पुराण भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास की देन है। अठारह महापुराण उन्हीं की रचना है। इसे पुराणों से समर्थन प्राप्त है। यथा :—

२५ **अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।**
पश्चाद् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्।। मत्स्य पुराण ५३/७०

सत्यवतीनन्दन व्यास ने १८ पुराणों की रचना कर उसके पश्चात् उनसे उपबृंहित भारत आख्यान की रचना की।

देवी भागवत पुराण में भी केवल एक शब्द के परिवर्तन से यह पद्य पढ़ा गया है :—

२६ **अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।**
भारताख्यानमतुलं चक्रे तदुपबृंहितम्।। १.३.२४

इससे पूर्व भी कृष्णद्वैपायन का १८ पुराणों का रचयिता इसी पुराण में कहा गया है :—

२७ **अष्टादश पुराणानि कृष्णेन मुनिनानघ।**
कथितानि सुदिव्यानि पठितानि त्वयानघ।। १.१.३

हे निष्पाप सूत! मुनि कृष्णद्वैपायन द्वारा कहे गये अतिदिव्य १८ पुराण तुमने पढ़े हैं।

वेदशाखा विभाजन प्रकरण में कूर्म पुराण का भी उपसंहार वाक्य है :—

२८ **भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः।** पूर्व. ५०/२०

प्रभु व्यास ने पुराण प्रवचन अठारह भेदों अथवा परिच्छेदों में किया है।

स्कन्द पुराण रेवाखण्ड में भी यह कथन है :—

२९ **अष्टादशपुराणानां वक्ता सत्यवतीसुतः।** १/१३।।

सत्यवतीसुत कृष्णद्वैपायन व्यास १८ पुराणों के वक्ता हैं।

परोपकार तथा पाप का स्वरूप बताने वाला एक पद्य अतीव प्रसिद्ध है जिसमें १८ पुराणों को व्यास का कहा गया है :—

३० **अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।**
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

अठारह पुराणों में व्यास के दो वचन हैं कि पुण्य का निमित्त परोपकार तथा पाप का निमित्त पर-पीडन है।

इन वचनों पर प्रामाणिकता की मुहर लग जाती है जब हम महाभारत में भी ऐसे वचन पाते हैं :—

३१ **श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः।**
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः।। स्वर्गा. प. ५/४७

अठारह पुराणों के कर्ता वेद के महासागर उन ऋषि महात्मा कृष्णद्वैपायन का यह सिंहनाद सुनो।

स्वर्गारोहण पर्व में यह वैशाम्पायन का वचन है जो यह व्यञ्जित करता है कि महाभारत रचना के पूर्व व्यास १८ पुराण रच चुके थे।

सभी पुराण ब्रह्मा की रचना है, यह विपरीत तथ्य भी प्रायः पुराणों में बहुधा प्रकट हुआ है। एतद्-विषयक कुछ वचन उद्धृत किये जा रहे हैं।

यहाँ उद्धरण क्रमांक १३वाँ देखा जाना चाहिये। मत्स्य पुराण के इन दो पद्यों के माध्यम से स्पष्ट घोषणा है कि भगवान् ब्रह्मा ही प्रथम व्यक्ति है जो पुराण के स्मर्ता हैं। पुराण का यह स्मरण वेदादिशास्त्रों के पूर्व किया गया है।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि वेद की भाँति पुराण भी पूर्वतः ब्रह्मा के समक्ष थे। ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण मात्र किया निर्माण नहीं। यह स्मरण ऐसा ही है जैसे नित्य आयुर्वेद का।

चरक संहिता भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का अग्निवेश आदि शिष्यों को किया गया उपदेश है। इसके सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय में भगवान् शतक्रतु इन्द्र द्वारा भरद्वाज को किये गये प्रवचन के क्रम में उल्लेख है कि :—

३२ **तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः।**
पदैरल्पैर्मतिं बुद्ध्वा विपुलां परमर्षये।। २१।।

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः।। २२।।

महर्षि भरद्वाज की बुद्धि की विपुलता को जानकर भगवान् शतक्रतु ने उन परमर्षि को थोड़े से शब्दों में ही आयुर्वेद का पूर्ण प्रवचन किया। हेतु, लिङ्ग, औषधज्ञान रूप तीन सूत्र वाले जिस पुण्य शाश्वत आयुर्वेद का ब्रह्मा ने बोध प्राप्त किया था।

ब्रह्मा ने किसी अन्य से आयुर्वेद का बोध प्राप्त नहीं किया था अपितु वेद राशि से आयुर्वेद ज्ञान का उद्धार किया था। वेद उन्हें पर–ब्रह्म से प्राप्त हुए थे। श्वेताश्वतरोपनिषत् के निम्नलिखित मन्त्र से यह स्पष्ट है :—

३३ **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।**
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षर्वै शरणमहं प्रपद्ये।। ६/१८।।

जो पहले ब्रह्मा की सृष्टि करता है तथा उसे वेद प्रदान करता है, मुमुक्षु में आत्मबुद्धि–प्रकाश उस देव के शरण में सर्वतोभावेन पूर्णरूप से जा रहा हूँ, जा चुका हूँ।

वेदों से तत्तत् शास्त्रों के सूत्रों को क्रमिक सन्निवेश के साथ स्पष्ट प्रतिपत्तिपूर्वक बुद्धिस्थ करना ही बोध है। यही अवबोध भी है। इस बोध को अन्य में संक्रान्त करने की प्रक्रिया उपदेश है। इस प्रकार ब्रह्मा ही आयुर्वेद के अवबोद्धा तथा उपदेष्टा हैं। चरक सूत्रस्थान के अन्तिम (३०वें) अध्याय में कहा गया है :—

३४ **सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्।**
स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च।। २०।।
न हि आयुर्वेदस्य अभूतोत्पत्तिरुपलभ्यते अन्यत्रावबोधो-
पदेशाभ्याम्। एतद् वै द्वयमधिकृत्य उत्पत्तिमुपदिशन्त्येके।।२१।।

इस प्रकार यह आयुर्वेद अनादि, स्वभावसंसिद्ध लक्षण वाला, तथा भावस्वभाव के नित्य होने से शाश्वत कहा जाता है। २०।

कहीं भी आयुर्वेद की अभूत–उत्पत्ति नहीं मिलती है अवबोध और उपदेश को छोड़कर। जो कुछ लोग उत्पत्ति बताते हैं वे अवबोध और उपदेश के रूप में ही बताते हैं।

उपदेश में बोध का स्मरण होता है। निम्नलिखित पद्य से आयुर्वेद विषय के प्रवचन की प्रक्रिया बताते समय यह तथ्य प्रकट हुआ है :—

३५ **ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्।**
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्।। १.१.३

आचार्य वाग्भटनिर्मित अष्टांग हृदय के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय आयुष्कामीय का यह पद्य बता रहा है कि ब्रह्मा ने आयु के वेद का स्मरण कर उसे प्रजापति को पढ़ाया। प्रजापति ने अश्विनी कुमारों को, उन्होंने इन्द्र को तथा इन्द्र ने अत्रिपुत्र आदि मुनियों को पढ़ाया।

ठीक इसी भाँति पुराण विषयक विवरण है फलतः (उद्धरण १३) 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्' जैसे कथन पुराण के इसी रूप को प्रकट करते हैं।

यह पद्य किसी व्यक्ति के यादृच्छिक भाव को बताता हो ऐसा नहीं है। इसी पुराण में यह पुनः कहा गया है :—

३६ **पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।**
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।। ५३/३

इसी भाँति उद्धरण १४वाँ वायुपुराण, १५वाँ पद्मपुराण सृष्टिखण्ड (१.२०० तथा १.५१) भी यही कहते हैं। यथा :—

३७ **पुराणं संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मोक्तं वेदसम्मितम्।** १.११

यह वायुपुराण का वचन है जो स्वयं को ब्रह्मा से उक्त बता रहा है। इसी अध्याय में पुनः यह भाव दोहराया गया है :—

ब्रह्मणा यत् पुरा प्रोक्तं पुराणं ज्ञानमुत्तमम्। १९४।।

ब्रह्मा ने पुराकाल में जो पुराण अर्थात् उत्तम ज्ञान कहा।

इसी पुराण में आगे जाकर पुनः कहा गया है :—

३८ **सर्वपापहरं पुण्यं पवित्रं च यशस्वि च।**
ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने।। १०३/५८

ब्रह्मा ने सर्व पापनाशक, पुण्य, पवित्र, यशस्वी यह पुराण शास्त्र मातरिश्वा अर्थात् वायु को दिया।

वायु द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा से अनेक ऋषियों को प्राप्त होता हुआ जातूकर्ण्य से द्वैपायन तथा द्वैपायन से लोमहर्षण को प्राप्त हुआ। ५९-६७।

यहाँ उद्धरण क्रमांक २३ को भी जो वायु पुराण से है, देखा जा सकता है जहाँ पुराण-सृष्टि ब्रह्मा से बतायी गयी है।

वायु पुराण :— पुराणों की सृष्टि समय-समय पर पद्मयोनि भगवान् ब्रह्मा द्वारा की गई, वायु पुराण उनमें से एक है। स्वयं वायुपुराण के वचन इसका प्रमाण है :—

पुराणं संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मोक्तं वेदसम्मितम्।
धर्मार्थन्यायसंयुक्तैरागमैः सुविभूषितम्।। १/११।

अभ्यस्यन्निममध्यायं साक्षात् प्रोक्तं स्वयम्भुवा।।
आपदं प्राप्य मुच्येत यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम्।। १/२०२।।

सर्वपापहरं पुण्यं पवित्रं च यशस्वि च।
ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने।। १०३/५८।।

मार्कण्डेय पुराण :—

यह पुराण भी ब्रह्मप्रोक्त पुराणों में एक है जैसा कि स्वयं इसी के निम्नलिखित पद्य से ज्ञात होता है :—

३९ **अष्टादश पुराणानि यानि प्राह पितामहः।**
तेषां तु सप्तमं ज्ञेयं मार्कण्डेयं सुविस्तरम्।। १३७/८

पितामह ब्रह्मा ने जो १८ पुराण कहे हैं उनमें सुविस्तृत मार्कण्डेय पुराण को सातवाँ समझना चाहिये।

इस पद्य से दो बातें ज्ञात होती हैं कि ब्रह्मा ने १८ पुराण कहे हैं तथा इनका क्रम भी उन्हीं के द्वारा निर्धारित है जिस क्रम में मार्कण्डेय पुराण सातवाँ है।

वामन पुराण :—

४० **त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः।**
त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम्।। मत्स्य. ५३/४४

चतुर्मुख ब्रह्मा ने भगवान् त्रिविक्रम के महिमा वर्णन को विषय बनाकर जहाँ धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का कथन किया है वहाँ यह वामन पुराण कहा गया है।

इसी भाँति स्वयं वामन पुराण में भी इसे ब्रह्मप्रोक्त बताया गया है :—

४१ **शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम्।**
प्रोक्तामादिपुराणे च ब्रह्मणाऽव्यक्तमूर्तिना।। २.१९ (गीताप्रेस)

महर्षि पुलस्त्य देवर्षि नारद को कहते हैं कि तुम सावधान होकर इस पुरातन कथा को सुनो जो आदि पुराण में अव्यक्तमूर्ति ब्रह्मा के द्वारा कही गयी है।

ब्रह्मप्रोक्त इस कथा को ही पुलस्त्य नारद को कह रहे हैं जो वामन पुराण है।

पद्म पुराण :—

४२ **एतदेव च वै ब्रह्मा पाद्मं लोके जगाद वै।**
सर्वभूताश्रयं तच्च पाद्ममित्युच्यते बुधैः।। १/५८

पद्म पुराण सृष्टि खण्ड का यह पद्य बता रहा है कि लोक में ब्रह्मा ने इसी पद्म पुराण का कथन किया। पद्म सभी भूतों का आश्रय है अतः पद्म के सम्बन्ध से यह पुराण पाद्म कहा जाता है यह विद्वानों की मान्यता है।

लिङ्ग पुराण :—

मत्स्य पुराण का कथन है कि :—

४३ **यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः।**
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च।। ५३/३६
कल्पान्ते लैङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम्। ३७।।

महेश्वर ब्रह्मा ने कल्पान्त में अग्निलिङ्ग-मध्यस्थित होते हुए अग्नि के अधिकार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विषयों का प्रवचन किया, उसे स्वयं ने ही लिङ्ग पुराण नाम दिया।

इस पुराण में इसे ब्रह्मप्रोक्त बताया है :—

४४ **ईशानकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य महात्मना।**
ब्रह्मणा कथितं पूर्वं पुराणं लैङ्गमुत्तमम्।। २/१

ईशान कल्प वृत्तान्त लेकर महात्मा ब्रह्मा ने पूर्व (काल) में उत्तम लिङ्ग पुराण का कथन किया।

ब्रह्म पुराण :—

इसके प्रवक्तृत्व को लेकर मत्स्य पुराण का कथन है :—

४५ **ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये।** ५३.२२।
ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रं पुराणं परिकीर्त्यते। २३।।

पूर्व में ब्रह्मा द्वारा मरीची को कहा गया तेरह सहस्र पद्यों के मान वाला पुराण ब्राह्म (ब्रह्म-पुराण) कहलाता है।

यह पुराण स्वयं कहता है :—

४६ **कथयामि यथापूर्वं दक्षाद्यैर्मुनिसत्तमैः।**
पृष्टः प्रोवाच भगवानब्जयोनिः पितामहः।। १/३०

पूर्व में दक्ष आदि मुनि श्रेष्ठों से पूछे गये कमलयोनि पितामह ने जिस रूप में कहा था मैं वह 'ब्रह्मपुराण' कह रहा हूँ।

विष्णुपुराण :—

पराशर प्रोक्त रूप में प्रसिद्ध इसी पुराण का कथन है :—

४७ **इदमार्षं पुरा प्राह ऋभवे कमलोद्भवः।**
ऋभुः प्रियव्रतायाह स च भागुरयेऽब्रवीत्।। ६/८/४३

इस आर्ष पुराण को कमलोद्भव ब्रह्मा ने पुराकाल में ऋभु को उपदिष्ट किया, ऋभु ने प्रियव्रत को तथा उसने भागुरि को कहा।

ब्रह्माण्ड पुराणः—

मत्स्यपुराण के पुराण-सन्दर्भ में इसके विषय में भी कहा गया है कि यह ब्रह्मचरित है :—

४८ **ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः।**
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम्।। ५३/५४
भविष्याणां च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः।
तद् ब्रह्माण्डपुराणं च ब्रह्मणा समुदाहृतम्।। ५५।।

ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड के माहात्म्य को लेकर एक और पुराण कहा जो १२२०० (बारह हज़ार दो सौ) श्लोकों वाला ब्रह्माण्ड पुराण है। इसमें भावी कल्पों का विस्तरशः वर्णन है, यह ब्रह्माण्ड पुराण ब्रह्मा ने कहा है। ब्रह्माण्ड पुराण का भी ऐसा ही कथन है :—

४९ **पुराणं लोकतत्त्वार्थमखिलं वेदसम्मितम्।**
प्रशशंस स भगवान् वसिष्ठाय प्रजापतिः।। १.१.१८

भगवान् प्रजापति ने वसिष्ठ को वेदसम्मित सम्पूर्ण लोक-तत्त्व विषयक पुराण कहा।

भविष्य पुराणः—

मत्स्य पुराण का कथन है :—

५० **यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः।**
अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन जगत्स्थितिम्।।
मानवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम्।। ५३/३०
चतुर्दश सहस्राणि तथा पञ्चशतानि च।
भविष्यच्चरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते।। ३१।।

जहाँ आदित्य को लेकर अघोर कल्पवृतान्त प्रसङ्ग में चतुर्मुख ब्रह्मा ने मनु के समक्ष जगत् स्थिति का तथा भूत समुदाय का स्वरूप बताया है, प्रमुखता से भविष्य-चरित का वर्णन करने वाला १४५०० श्लोकों में ग्रथित यह भविष्य पुराण है।

वायु, मार्कण्डेय, वामन, पद्म, लिङ्ग, ब्रह्म, विष्णु, ब्रह्माण्ड तथा भविष्य इन नौ पुराणों का ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त होना बताया गया है।

वायु, षण्मुख, नारद, मार्कण्डेय द्वारा क्रमशः वायुपुराण, स्कन्द पुराण, नारदीय पुराण तथा मार्कण्डेय पुराण का प्रवचन, मत्स्य रूप विष्णु द्वारा मत्स्य का, कूर्मरूप से कूर्म पुराण का, वराह रूप से वराह पुराण का, विष्णु रूप से गरुड पुराण का, अग्नि द्वारा आग्नेय पुराण का तथा महेश्वर द्वारा लिङ्ग पुराण का प्रवचन मत्स्य पुराण के ५३वें अध्याय में बताया गया है। यहाँ भागवत का कोई भी वक्ता नहीं बताया गया है।

इस सम्पूर्ण विवरण से प्रत्यक्ष है कि इन १८ प्रसिद्ध पुराणों में भगवान् व्यास (कृष्ण द्वैपायन) का एक भी पुराण नहीं है।

पुराण प्रवचन निर्देश प्रसंग में प्रायः कल्प नाम भी आया है। मत्स्य पुराण का २८९ वाँ अध्याय कल्प सम्बद्ध है। यहाँ के दो पद्य उद्धृत हैं :—

५१ **आदावेव हि माहात्म्यं यस्मिन् यस्य विधीयते।**
तस्य कल्पस्य तन्नाम विहितं ब्रह्मणा पुरा।।१२।।
यस्मिन् कल्पे तु यत् प्रोक्तं पुराणं ब्रह्मणा पुरा।
तस्य तस्य तु माहात्म्यं तत्स्वरूपेण वर्ण्यते।।१५।।

प्रारम्भ में ही जिस कल्प में जिसके माहात्म्य का वर्णन किया गया है उसी आधार पर ब्रह्मा ने उस कल्प का वह नाम रखा है।१२। प्राचीन काल में ब्रह्मा ने जिस कल्प में जिस पुराण को कहा है उसी कल्प का माहात्म्य उस पुराण में वर्णित हुआ है।१५।

इससे भी स्पष्ट है कि कल्पों और पुराणों के नाम ब्रह्मा की देन है, व्यास की उपज्ञा नहीं है।

इस प्रकार ये कतिपय विरोधी वक्तव्य यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। इन पर विचार आवश्यक है। इसके अभाव में घातक परिणाम निकलेंगे।

जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है लोग अपने प्रिय अथवा अभिमत पक्ष को लेकर अपने मत की स्थापना करते रहेंगे जैसा कि अब तक करते आ रहे हैं। भारतीयता के प्रति श्रद्धा के नितान्त अभाव वाले लोग सुन्दोपसुन्दन्याय से दोनों ही पक्षों का प्रत्याख्यान कर वाङ्मय की सभी विधाओं को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रचार करेंगे। सामान्य पाठक को विवश होकर इनके सदसत्त्व के मध्य म त्रिशंकु बनकर रह जाना होगा।

सम्पूर्ण वाङ्मय मनु की परम प्रामाणिकता एक स्वर से मानता है। महर्षि यास्क ने (महाभारत से पूर्व प्रणीत) अपने निरुक्त ३/४ में 'तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्' के प्रतीक से जिन दो पद्यों को उद्धृत किया है उनमें द्वितीय है :—

५२ **अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।**
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।

मिथुन (स्त्री-पुरुष रूप लिङ्गद्वय में) उत्पन्न पुत्री-पुत्र का बिना भेदभाव के धर्म से दाय = पैतृकधन विभाजन होता है, यह विसर्ग के आदि में स्वायम्भुव मनु ने कहा है।

इससे दो बातें स्पष्ट ज्ञात होती हैं। मनु का काल विसर्ग के आदि में है, फलतः वे सर्व पुरातन हैं, द्वितीय- धर्म निर्णय में मनु परम प्रमाण हैं।

वेद एवं धर्म को तर्क की कसौटी पर कसकर ग्रहण करने का विधान मनु स्पष्ट रूप से देते हैं :—

५३ **आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।**
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।। १२/१०६

जो वेद एवं शास्त्रों के विरोध में न जाने वाले तर्क से वेद तथा धर्मोपदेश (स्मृतिशास्त्र) का अनुसन्धान करता है वह धर्म का मर्म समझता है, ऐसा न करने वाला नहीं समझ पाता है।

यह तर्क भी यहाँ पंगु हो जाता है, जब देखते हैं कि मनु वेदातिरिक्त अध्ययन को घोर पतन का कारक बताते हैं जैसा कि उद्धरण पञ्चम में उनके पद्य में कथन है। आगे चलकर वे ही (उद्धरण २ में) पुराण को पितृकर्म में विधि के रूप में आदिष्ट करते हैं।

भगवान् याज्ञवल्क्य पुराण को प्रथम धर्म-स्थान (उद्धरण क्रमांक १) बताते हैं, जपयज्ञ सिद्धि के लिये पुराण स्वाध्याय का विधान (उद्ध. ३) करते हैं तथा आगे जाकर निःश्रेयसकर रूप में केवल वेद तक ही स्वाध्याय को सीमित कर देते हैं।

क्या इनमें पुराण विषयक वचन को प्रक्षिप्त मान लिया जावे? कहीं-कहीं ऐसा किया भी गया है। उदाहरण के रूप में डॉ. सुरेन्द्र कुमार जी का नाम लिया जा सकता है। इनके द्वारा मनुस्मृति के भाष्य का निर्माण और समीक्षण किया गया है। पितृयज्ञ का दिवंगत प्राणियों से सम्बन्ध अशास्त्रीय मानकर **स्वाध्यायं श्रावयेत्,** को प्रक्षिप्त माना गया है। सम्भवतः पुराण का यथार्थ रूप उनके ज्ञान में होता तो ऐसा नहीं करते। आर्ष वाङ्मय के मर्मज्ञ पं. भगवद्दत इसे प्रामाणिक सम्मति के रूप में उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि :—

'पितृकर्म में इतिहास का पाठ बहुत महत्त्वपूर्ण कहा गया है'।

—(भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग प्रथम पृष्ठ २१)

जब तक सभी शास्त्रों के अध्ययन से किसी कथन की निर्मूलता प्रमाणित न हो जावे तब तक किसी भी विचार को प्रक्षिप्त कहना उचित नहीं है। शास्त्रार्थ निर्णय की यह संकीर्ण दृष्टि है।

महर्षि मनु जैसी आप्तता ही महर्षि याज्ञवल्क्य की है। इनके भी विचार किसी भी रूप में उपेक्षणीय नहीं हैं।

उद्धरण क्रमांक ९ में कूर्म पुराण (पूर्वार्ध १२/२६०) के श्लोक में कहा गया है कि वेद से भिन्न कोई अन्य शास्त्र धर्म-व्याख्याता है ही नहीं। यही पुराण केवल ७ श्लोकों के पश्चात् आठवें-नवें पद्य में (उद्धरण क्रमांक ८) घोषणा करता है कि ब्रह्मा के आदेश से व्यास आदि ऋषियों ने १८ पुराणों का प्रवचन किया जिनमें धर्म प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त व्यास आदि के शिष्यों ने भी विभिन्न युगों में बारम्बार उप पुराणों की रचना की है। ये सभी धर्मशास्त्रवित् थे।

सम्पूर्ण वाङ्मय इस विषय में सर्वथा एकमत है कि सभी शास्त्रों की प्रवृत्ति ब्रह्मा से है। इन शास्त्रों में पुराण भी है फलतः पुराण के आदि प्रवक्ता भी ब्रह्मा ही प्रमाणित होते हैं।

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग प्रथम में पण्डितवर्य युधिष्ठिर मीमांसक जी लिखते हैं कि :—

५४ **'समस्त भारतीय ऐतिहासिकों का सुनिश्चित मत है कि लोक में जितनी भी विद्याओं का प्रकाश हुआ है उन विद्याओं का प्रवचन ब्रह्मा जी ने ही किया था। यह प्रवचन अतिविस्तृत था। यह आदि प्रवचन ही शास्त्र अथवा शासन नाम से प्रसिद्ध हुआ।'**

—(पृष्ठ ५९, वैशाख संवत् २०२० विक्रम, द्वितीयवार)।

श्री मीमांसक जी के इन विचारों का मूल आधार पं.भगवद्दत्त जी द्वारा लिखित भारतवर्ष का बृहत् इतिहास द्वितीय भाग रहा है। वहाँ सप्रमाण उन २२ शास्त्रों का नामोल्लेख है जो ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त हैं। इनमें इतिहास पुराण २० वाँ है।

ऋषि दयानन्द भी इससे सहमत हैं कि पुराण ब्रह्मा की रचना है भले ही पुराण के स्वरूप के विषय में किंचिद् दृष्टिभेद हो जैसा कि उनके स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में प्रकट किया गया है कि—

५५ **'पुराण जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ।'**

यदि पुराण हेय हैं तो भगवान् ब्रह्मा ऐसे पातक कार्य में प्रवृत्त होकर क्यों तो पुराण की रचना करते हैं और क्यों तत्त्वदर्शी ऋषियों को इस असत्कार्य के लिए नियुक्त करते हैं तथा ऋषि इस नियोग का पालन ही क्यों करते हैं? भला इन पातक ग्रन्थों में धर्म प्रतिष्ठित रह सकता है? क्या आस्तिक समुदाय को ये प्रश्न कचोटते नहीं है?

वाङ्मय के प्रत्न से प्रत्न ग्रन्थों में पुराण का अस्तित्व खोजते हुए संहिताओं के मन्त्र तक पहुँच कर विद्वान् कृतकृत्य मान लेते हैं अपने को, अपने श्रम को सफल मानते हुए। सुस्पष्ट रूप में यह कहने का साहस कोई नहीं करता है कि पुराण वेद ही हैं।

लगभग ३०-३१ वर्ष से मुझे प्रतीक्षा रही है कि कोई तो इस दर्शन को ऐसे कथन से पुष्ट करता। जनवरी, १९७५ को अखिल भारतीय काशिराज न्यास वाराणसी के षाण्मासिक पत्र **'पुराणम्'** में लेखक का **'पुराणं वेदः'** लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर वेदत्व प्रतिपादित किया गया था।

यदि यह हृदयंगम कर लिया जावे कि पुराण वेद ही है, उस पुराण-वेद का व्याख्यात्मक विस्तार वर्तमान पुराण वाङ्मय है तो इन विरोधाभासों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। शास्त्र वचनों की सुसंगत व्याख्या समाज को प्राप्त होगी।

वायु पुराण में निम्नलिखित पद्य पढ़ा गया है:—

५६ **पुराणवेदो ह्यखिलस्तस्मिन् सम्यक् प्रतिष्ठितः।**
भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी।। १/१८

यह लोमहर्षण के विषय में कथन है कि उसमें सम्पूर्ण पुराण—वेद भलीभाँति प्रतिष्ठित है साथ ही महाभारत की वृद्धि करने वाली विपुल भारती अर्थात् भाषा भी।

इसी भाँति महाभारत के खिल हरिवंश पुराण के भविष्य पर्व का निम्नलिखित पद्यार्थ भी द्रष्टव्य है :—

५७ **पुराणवेदसम्बद्धः शिवः स्वस्त्ययनो महान्।** ४०/२५

पुराणवेद से सम्बन्धित मंगलमय महान् स्वस्तिकारक।

क्या पुराणवेद को आयुर्वेदादि की भाँति उपवेद माना जावे अथवा स्वयं को गौरव देने के लिये पुराणकारों का औपचारिक प्रयोग?

पुराण प्रज्ञा के सम्पादकीयम् में प्रो. गङ्गाधर पण्डा का आरम्भ वाक्य है :—

५८ **पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।**
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।। ब्रह्माण्ड पुराण १.१.४०

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
उत्तमं सर्वलोकानां सर्वज्ञानोपपादकम्।। पाद्म. १.१.४५

पुराणानामर्थवादरूपश्लोकद्वयं पुराणमहत्त्वप्रतिपादनावसरे पुराणं ब्रह्मनिर्मितमित्यर्थं व्यनक्ति।

इसका अभिप्राय है कि ये दोनों पद्य अर्थवाद रूप को लिये हुए हैं जो पुराण का महत्त्व बताने के लिए यह कह रहे हैं कि पुराण ब्रह्मा से निर्मित हैं।

अर्थवाद सभी शास्त्रों से पूर्व पुराण के स्मरण में है ऐसा बताते तब भी कोई बात थी। ब्रह्मा ने पुराण का निर्माण नहीं किया फिर भी इन्हें ब्रह्मा द्वारा निर्मित बताकर यहाँ

अर्थवाद की छाया तक न होने पर भी पुराण महत्त्व प्रतिपादन में अर्थवाद बताना अविचारित रमणीय है।

पुराण का प्रथम स्मरण तथा इस रूप में ब्रह्मा का पुराण–कर्तृत्व आगे चलकर विवेचन का विषय होगा, गत पृष्ठों में वैसे इस पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

भगवान् सनत्कुमार के सम्मुख अपने अध्ययन विषयों को बताते हुए देवर्षि नारद कहते हैं :—

५९ **ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्, पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पजनदेवविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।**

—छान्दोग्योपनिषत् ७/१/२

भगवन्! मैं ऋग्वेद का अध्ययन करता हूँ यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पञ्चम इतिहास पुराण वेद जो वेदों का वेद है, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या तथा सर्पजन देवविद्या इनका अध्ययन मैं करता हूँ भगवन्!।

देव ब्रह्मा नारद द्वारा इतिहास, पुराण को पञ्चम वेद के रूप में गिनना तथा इसे वेदों का वेद कहना भी अर्थवाद है क्या? न तो नारद यहाँ केवल पुराण का उल्लेख कर रहे और न उसका महत्त्व बताने को प्रवृत्त है। क्या नारद के इस कथन को प्रमत्तप्रलाप अतएव अनार्ष कहा जा सकता है।

स्पष्ट है कि नारद वेदों की गणना करते हुए, वेदों के नाम गिनाते हुए ही पाँचवें पुराण का नाम ले रहे हैं, वेदों का वेद कहकर ऋगादिवेदचतुष्टय की अपेक्षा उसका गौरवाधिक्य भी बता रहे हैं। यह यथार्थ कथन है।

वेद का नामान्तर ब्रह्म भी है। ब्रह्म की व्याख्या ब्राह्मण कहलाती है। साधारणतया ब्राह्मण के तीन भाग होते हैं :— विधि, आरण्यक तथा उपनिषत्। आरण्यक का ही भाग उपनिषत् है तथा आरण्यक स्वयं ब्राह्मण का भाग है अतः आरण्यक तथा उपनिषत् भी ब्राह्मण ही हैं। व्यवहार सौकर्य के लिए व्याख्येय विषय–भेद से नामत्रय है। छान्दोग्योपनिषत् छान्दोग्यब्राह्मण ही है। ब्रह्म का व्याख्याभूत ग्रन्थ ब्राह्मण जब पुराण को वेदों का वेद कह रहा है तो निश्चय ही पुराण का वेदत्व है। इसी प्रसंग में महर्षि नारद का यह कथन इसी रूप में दो बार और दोहराया गया है अतः भ्रम तथा प्रमाद की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है।

स्वायम्भुव मनु एवं याज्ञवल्क्य वेद के पुराण आदि रूपों से सुपरिचित थे अतः उन्होंने सामान्य रूप से वेद शब्द का तथा विषय विशेष रूप से पुराण आदि नामों का वैसे ही प्रयोग किया है जैसे आज हम विशेषाभिधित्सा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद नामों का प्रयोग करते हैं।

स्वायम्भुव मनु स्वयं वेदाचार्य अर्थात् व्यास हैं। भगवान् शंकर अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

६० **सर्ववेदार्थविदुषां मनुः स्वायम्भुवोऽस्म्यहम्।** ७/१४

कूर्म पुराण उत्तरार्ध के इस पद्यार्ध का अर्थ है कि—मैं सभी वेदों के सभी अर्थों के ज्ञाताओं में (प्रधानभूत) स्वायम्भुव मनु हूँ। वेदज्ञों का व्यास नाम भी इसी पुराण के निम्नलिखित पद्यार्ध से ज्ञात होता है :—

ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि। पूर्वार्ध ११/२२८

देवी की स्तुति में यह उनके पिता पर्वतराज हिमालय की उक्ति है जिसमें यह भाव व्यक्त किया गया है कि तुम ऋषियों में वसिष्ठ तथा वेदज्ञों में व्यास हो।

निश्चित ही उस समय तक भगवान् कृष्ण द्वैपायन का आविर्भाव नहीं हुआ था। इस पद्य के ठीक पूर्व वाले पद्य में देवी को ब्रह्मविदों में ब्रह्मा भी कहा गया है :—

६१ **ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि ....।** कू.पु.पू. ११/२२७

इसके अनुसार ब्रह्म तथा वेद का अर्थगत सूक्ष्म अन्तर भी ध्यातव्य है। इसी पुराण में प्रथम व्यास स्वायम्भुव मनु को बताया गया है :—

६२ **द्वापरे प्रथमे व्यासो मनुः स्वायम्भुवो मतः।** पूर्वार्ध ५०/१

प्रथम द्वापर में व्यास मनु स्वायम्भुव माने गये हैं। ये स्वायम्भुव मनु अपनी स्मृति में स्वाध्याय-वेद के अन्तर्गत आने वाले विषयों में पित्र्यकर्मोचित पाठ्य विषयों की गणना धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिल नामों से कर रहे हैं। इनके अध्ययन में वेद विरुद्धता कहाँ है? श्री कुल्लूक भट्ट ने—

६३ **धर्मशास्त्राणि = मानवादीनि, इतिहासान् = महाभारतादीन्, पुराणानि = ब्रह्मपुराणादीनि** (३ /२३२)

जैसा अर्थ गजनिमीलिका से किया है जो उचित नहीं है।

यद्यपि मनुस्मृति प्रथम धर्मशास्त्र है तथापि इसमें वसिष्ठ (८.१४०) अत्रि, उतथ्य पुत्र गौतम, शौनक तथा भृगु (३.१६) के मत नाम से, केचित् (कुछ लोग २.५३) पूर्वज

महर्षि (९.३१) वायुगीता गाथाः (९.४२ वायु से गायी गयी गाथाएं) जैसे उल्लेख मिलने से इसके समसामयिक स्मृतिकारों की स्मृतियों का अस्तित्व ज्ञात होता है। निम्नलिखित पद्य से तो वेदबाह्य स्मृतियों के प्रचार का भी ज्ञान होता है :—

६४ **या वेद-बाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।**
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।। १२/९५

जो स्मृतियाँ वेदबाह्य अर्थात् वेदमूलकता से हटकर हैं, जिनकी दृष्टि असत् है वे सभी पारलौकिक फल देने वाली नहीं हैं क्योंकि उनकी निष्ठा तमोमयी है।

इस दृष्टि से 'धर्मशास्त्राणि' का अर्थ मन्वादि धर्मशास्त्र लिया जा सकता है तथापि स्वाध्याय के क्षेत्र बताने के सन्दर्भ में आये इन पदों का अर्थ वेद से निबद्ध विषयों तक सीमित रखना ही न्याय्य है। उन वेद मन्त्रों का संकलित रूप धर्मशास्त्र है जिनमें धर्म विषयक अनुशासन हो।

इतिहास से महाभारत का ग्रहण भी अनुचित है जो प्रायः मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र टीकाकारों ने किया है। वैवस्वत मन्वन्तर के २८वें द्वापर में श्रीकृष्ण द्वैपायन वेद व्यास द्वारा ग्रथित महाभारत का मनुस्मृति प्रवचनकाल में अस्तित्व नहीं था।

इसी भाँति 'पुराणानि' से 'व्यासादिप्रणीतानि सूक्ष्मादिवर्णनरूपाणि' (मेधातिथि) तथा ब्रह्मपुराण आदि (कुल्लूक) का ग्रहण भी उचित नहीं है। यही स्थिति 'खिलानि' के साथ है जब इससे हरिवंशादीनि (नन्दन) का ग्रहण किया जा रहा हो।

वास्तविक स्थिति यह है कि ये सभी विषय वेद मंत्रों के ही हैं।

ऐतिह्य प्रसिद्ध है कि भगवान् याज्ञवल्क्य ने भगवान् आदित्य से शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त किया तथा कण्व, मध्यन्दिन आदि को इसका उपदेश भी दिया। इसी वेद के ब्राह्मण का प्रवचन भी इन्हीं १५ शिष्यों को किया था जिनमें काण्व तथा माध्यन्दिन शाखा के पूर्ण शतपथ ब्राह्मण आज भी हैं। इन्हीं वेदर्षि याज्ञवल्क्य की 'याज्ञवल्क्यस्मृति' तथा 'बृहद्योगि-याज्ञवल्क्यस्मृति' हैं तथा दोनों ही प्रचलित हैं।

स्वाध्याय यज्ञ में इनके द्वारा वेद के विषय वेद, अथर्व, पुराण, इतिहास तथा आध्यात्मिकी विद्या नाम से गृहीत किये गये हैं। (उद्धरण क्र. ३)

वेद ४ माने जाते हैं। सूर्य सिद्धान्त, पिंगलच्छन्दःसूत्र जैसे प्राचीनतम ग्रन्थों में शब्दांक पद्धति में वेद शब्द से ४ की संज्ञा का ग्रहण आज तक आबालवृद्ध संस्कृतज्ञों में तथा संस्कृत ज्ञान में अप्रौढ लोगों द्वारा किया जा रहा है तो भगवान् याज्ञवल्क्य के इस वेदाथर्वपुराणानि (उद्धरण ३) का क्या यह भाव लिया जावे कि भगवान् याज्ञवल्क्य भी

आधुनिक अल्पज्ञ लोगों की भाँति अथर्ववेद की उत्पत्ति परवर्ती काल में मानते हैं। अथवा यह विचारना उचित है कि अभिप्राय विशेष से वे वेद और अथर्व की पृथक्-पृथक् गणना कर रहे हैं।

महामनीषी आचार्य कौटिल्य (कलि सं. १५०० = ईसवीय सन् से १६०० वर्ष पूर्व) ने अर्थशास्त्र में याज्ञवल्क्य के ही भाव लिये हैं :—

६५ **सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी। अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति चाङ्गानि।** १/२/१

साम, ऋग्, यजुः ये तीन वेद त्रयी हैं। अथर्ववेद, इतिहास वेद ये दो तथा त्रयी ये वेद हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष ये छः अंग हैं।

६६ **एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।** १/२/२

अङ्गसहित पञ्च वेद रूप त्रयी से बोधित धर्म चारों वर्णों तथा आश्रमों का स्व-स्व धर्म में संस्थापक होने से (राजा अथवा शासक का) उपकारक है।

महर्षि गौतम के न्याय सूत्र का वात्स्यायन भाष्य इन्हीं आचार्य कौटिल्य का है। अर्थशास्त्र में विद्यासमुद्देश (१.१.१) में स्थापित :—

६७ (i) **प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।**
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।

का महत्त्व न्यायदर्शन भाष्य में वे निम्नलिखित रूप में व्यक्त करते हैं :—

६७ (ii) सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।। १.१.१

यह आन्वीक्षिकी समस्त विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों की सिद्धियों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय सदैव मानी गयी है।

वही यह अन्वीक्षिकी प्रमाण आदि पदार्थों से विभज्यमान होती हुई सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय 'विद्योद्देश' में प्रकृष्टरूप से कही गयी है।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष विषयों को लेकर एक-एक अद्वितीय ग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले महान् कारणिक चाणक्य से अनुसृत भगवान् याज्ञवल्क्य के विचार निर्मूल नहीं हैं।

दुःख है कि स्मृति के ख्यातनामा टीकाकार उनके मन्तव्य को नहीं समझ सके। इसी पद्य पर अपरार्क का लेख है :—

६७ (iii) **विद्यामाध्यात्मिकीम् अध्यात्मसम्बन्धिनीमुपनिषद्ग्रन्थमित्यर्थः। जपयज्ञार्थसिद्ध्यर्थं ब्रह्मयज्ञसिद्ध्यर्थम्। अध्यात्मविद्यायाः पृथगुपादानं प्राधान्यार्थम्। वेदेत्युक्तेऽथर्वग्रहणं वृत्तपूरणार्थम् तथाङ्गिरसामुपलक्षणार्थम्।**

आध्यात्मिकी विद्या का अर्थ है अध्यात्मसम्बन्धिनी विद्या अर्थात् उपनिषद् ग्रन्थ। जपयज्ञ की सिद्धि का अर्थ है ब्रह्मयज्ञ की सिद्धि। याज्ञवल्क्य अध्यात्मविद्या का पृथक् ग्रहण उस विद्या की प्रधानता को व्यक्त करने के अभिप्राय से करते हैं। जब वेद शब्द कह दिया है और उससे चारों वेदों का ग्रहण हो ही जाता है तो भी अथर्व को पृथक् रूप से गिनना केवल छन्द की पूर्ति के लिए है साथ ही आंगिरसवेद का भी यह उपलक्षण रूप में ग्रहण बता रहा है।

यहाँ आध्यात्मिकी से अध्यात्मविद्या का ग्रहण तो समुचित है किन्तु उपनिषद्-ग्रन्थों का ग्रहण ठीक नहीं है। 'अध्यात्मविद्या बोधक वेद मन्त्रों की राशि' अर्थ इसका है। दूसरा विचार छन्द पूर्ति के लिए अथर्व नाम देना भी विचार्य है।

'मिताक्षरा-'व्याख्यायुत याज्ञवल्क्य-स्मृति के सम्पादक मुंबई और मद्रास उच्च न्यायालय के अभिभाषक श्री एस.एस. सेटलर द्वारा पाद टिप्पणी में लिखा गया है :—

६७ (iv) **यदुपरितने अपरार्कीये 'वेदेऽत्युक्तेऽथर्वग्रहणं वृत्तपूरणार्थम्' इत्युच्यते तन्न साधु। वेदास्त्रय एव यदाह भगवानत्रिः—**

त्रयो लोकास्त्रयो वेदा आश्रयाश्च त्रयोऽग्नयः।

एतेषां रक्षणार्थाय संसृष्टाः ब्राह्मणाः पुरा।। १.१०

अथर्वणो वेदशब्दवाच्यतौपचारिकैव। आह च वेदः — ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम् इति।

ऊपर जो अपरार्कीय प्रघट्टक में कहा गया है कि 'वेद कह देने पर भी अथर्व का गिनना वृत्त पूर्ति के लिए हैं;' वस्तुतः ठीक नहीं है। वेद (कुल) तीन ही हैं जैसा भगवान् अत्रि कहते हैं :— तीन लोक, तीन वेद, तीन आश्रम तथा तीन ही अग्नियाँ हैं। इनकी रक्षा के लिए पुराण काल में ब्राह्मणों की सृष्टि की गई। अथर्व को वेद कहना औपचारिक ही है। स्वयं वेद कहता है — 'भगवन् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वण वेद तथा पञ्चम इतिहास पुराण का अध्ययन मैं करता हूँ।'

समाधान की यह दिशा ठीक नहीं है। प्रथम तो त्रयी का अर्थ तीन मानना ही ठीक नहीं है, 'त्रयी' का अर्थ तीन अवयवों वाली एक इकाई। छान्दोग्य के वचन को निस्सन्देह वेद कह रहे हैं :—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' के अनुवर्तन में तथा प्रत्यक्ष रूप से वेदत्वेन सर्वसम्मत अथर्ववेद को औपचारिकता से वेद कह रहे हैं यह वास्तविक दृष्टि के अभाव का परिणाम है, इस विषय पर विचार आगे होगा यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट है कि आप्तशिरोमणि याज्ञवल्क्य ऋगादिवेद तथा पुराणादि वेद को समान रूप से वेद मानकर अनुशासन कर रहे हैं अतः उनके कथन में कोई विरोध नहीं है। वैसे तो शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर विभिन्न प्रवृत्ति-निमित्तों से वेद को विभिन्न रूपों में गिना गया है जो गणना ४ की संख्या का भी अतिक्रमण कर जाती है, तथापि यहाँ अश्वमेध के प्रसंग के एक ब्राह्मण-तेरहवें काण्ड के चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मण—का उल्लेख पर्याप्त होगा जहाँ एक निश्चित क्रम में १० वेदों की गणना की गयी है। इसे 'पारिप्लवाख्यान ब्राह्मण' कहते हैं। इसमें कुल १५ कण्डिकाएँ हैं।

अश्वमेधीय अश्व को यज्ञस्थल से छोड़ दिया जाता है, वह पूरे एक वर्ष अर्थात् ३६० दिन घूमकर पुनः यज्ञिय स्थल पर लौट आता है। तदनन्तर अश्वमेध याग का मुख्य क्रियाकलाप होता है। पूर्व के ३६० दिनों में वेदकथा होती है। इसमें सम्पूर्ण समाज के उपयोग के दस वेदों को लेकर प्रतिदिन एक वेद का उपदेश दिया जाता है। इस प्रकार दस दिन में एक चक्र पूरा होता है। यह परिप्लव है। इस प्रकार ३६ बार वर्षभर यह क्रम चलता है। इस प्रकार दशाह पारिप्लव ३६ बार होता है।

यहाँ के दस दिन से सम्बद्ध विषय को संक्षेप में उद्धृत किया जा रहा है :—

६७ (v) (i) **मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः। त इम आसत इति। अश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति ऋचो वेदः सोऽयमिति। ऋचां सूक्तं व्याचक्षाण इवानुद्रवेत्।** १३.४.३.३।

(ii) **अथ श्वोभूते द्वितीयेऽहन्नेवमेव। यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः। त इम आसत इति। स्थविरा उपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति—यजूंषि वेदः सोऽयमिति। यजुषामनुवाकं व्याचक्षाण इवानुद्रवेत्। ६।**

(iii) **अथ तृतीयेऽहन्नेवमेव। वरुण आदित्यो राजेत्याह। तस्य गन्धर्वा विशः। त इम आसत इति। युवानः शोभना उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति अथर्वाणो वेदः सोऽयमिति अथर्वणामेकं पर्व व्यावचक्षाण इवानुद्रवेत्। ७।**

(iv) **अथ चतुर्थेऽहन्नेवमेव। सोमो वैष्णवो राजा इत्याह। तस्याप्सरसो विशः। ता इमा आसत इति। युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति। ता उपदिशति। अङ्गिरसो वेदः सोऽयमिति। अङ्गिरसामेकं पर्व व्याचक्षण इवानुद्रवेत्। ८।**

(v) **अथ पञ्चमेऽहन्नेवमेव। अर्बुदः काद्रवेयो राजेत्याह। तस्य सर्पा विशः। त इम आसत इति। सर्पाश्च सर्पविदश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति सर्पविद्या वेदः सोऽयम्। सर्पविद्याया एकं पर्व व्याचक्षाण इवानुद्रवेत्। ९।**

(vi) **अथ षष्ठेऽहन्नेवमेव। कुबेरो वैश्रवणो राजेत्याह। तस्य रक्षांसि विशः। तानीमान्यासत इति। सेलगाः पापकृतः उपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति देवजनविद्या वेदः सोऽयम्। देवजनविद्याया एकं पर्व व्याचक्षाण इवानुद्रवेत्। १०।**

(vii) **अथ सप्तमेऽहन्नेवमेव। असितो धान्वो राजेत्याह। तस्यासुरा विशः। त इम आसत इति। कुसीदिन उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति माया वेदः सोऽयम् इति। काञ्चिन्मायां कुर्यात्। ११।**

(vii) **अथाष्टमेऽहन्नेवमेव। मत्स्यः साम्मदो राजेत्याह। तस्योदकेचरा विशः। त इम आसत इति। मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति इतिहासो वेदः सोऽयम् इति। कञ्चिदितिहासमाचक्षीत। १२।**

(ix) **अथ नवमेऽहन्नेवमेव। ताक्ष्र्यो वैपश्यतो राजेत्याह। तस्य वयांसि विशः। तानीमान्यासत इति। वयांसि च वायोविद्यिकाश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत। १३।**

(x) **अथ दशमेऽहन्नेवमेव। धर्म इन्द्रो राजेत्याह। तस्य देवा विशः। त इम आसत इति। श्रोत्रिया अप्रतिग्राहका उपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति सामानि वेदः सोऽयमिति। साम्नां दशतं ब्रूयात्। १४।**

प्रथम दिवस — मनु वैवस्वत राजा है, मनुष्य उसकी प्रजा हैं। वे ये बैठे हैं। क्षोत्रिय — सम्पूर्ण वेदों के न पढ़ने वाले किन्तु वेद की शाखा विशेष के पढ़े विद्वान् तथा पाकयज्ञ करने वाले गृहस्थ एकत्र होते हैं। (होता) उन्हें उपदेश देता है, यह ऋचा रूप वेद है, इसके पश्चात् वह ऋचाओं के सूक्त की व्याख्या करता हुआ-सा आगे बढ़ता है। ३।

फिर दूसरे दिन ऐसा ही करता है। यह वैवस्वत यम राजा है। उसकी प्रजा पितर हैं। वे सब बैठे हैं, स्थविर वहाँ एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश देता है, यह यजूरूप वेद हैं। पश्चात् यजुओं के (किसी एक) अनुवाक की व्याख्या करता हुआ बढ़ता है। ६।

पुनः तीसरे दिन ऐसा ही करता है। वरुण आदित्य राजा है, गन्धर्व उसकी प्रजाएँ हैं। वे सब बैठे हैं। युवा सुन्दर लोग इकट्ठे होते हैं। उन्हें उपदेश देता है, यह अथर्व (अथर्व प्रोक्त मन्त्र तथा ब्राह्मणानुवाक) वेद है। पश्चात् अथर्वों का एक पर्व व्याख्या पुरस्सर प्रस्तुत करता है। ७।

इसी भाँति अब चौथे दिन करता है। सोम वैष्णव राजा है। अप्सराएँ उसकी प्रजा हैं। वे सब बैठी हैं। शोभन युवतियाँ एकत्र होती हैं। उन्हें उपदेश करता है। ये आंगिरस मन्त्र तथा ब्राह्मणानुवाद वेद है। इन अंगिराओं का एक पर्व व्याख्यात करता है। ८।

अब पाँचवें दिन ऐसा ही किया जाता है। अर्बुद काद्रवेय राजा है। सर्प उसकी प्रजा हैं। ये बैठे हैं। सर्प और सर्पवित् एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश देता है कि यह सर्प-विद्या वेद है। अब सर्प-विद्या के एक पर्व की व्याख्या करता हुआ-सा विषय का अनुगमन करता है। ९।

अब छठे दिन ऐसी ही आवृत्ति होती है। कुबेर वैश्रवण राजा है। राक्षस उसकी प्रजा हैं। वे ये उपस्थित हैं। सेलग पापकृत उपस्थित होते हैं। उन्हें उपदेश करता है :—यह वेद देवजन विद्या है, इस प्रकार देवजन विद्या का एक पर्व व्याख्यापूर्वक सुनाए। १०।

अब सातवें दिन ऐसा ही होता है। असित धान्व राजा है। असुर उसकी प्रजा हैं। वे सब बैठे हैं। कुसीदी एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश मिलता है। यह माया वेद है। कुछ माया उन्हें दिखावें। ११।

अब आठवें दिन मत्स्य साम्मद राजा है। उदकेचर उसकी प्रजा हैं। वे उपस्थित हैं। मत्स्य और मत्स्यघाती एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश करता है, यह इतिहास वेद है। फिर कोई इतिहास सुनाता है। १२।

यह नवम दिवस है। तार्क्ष्य वैपश्यत राजा है। वयः उसकी प्रजा हैं। ये बैठे हैं। वयः और वायो-विद्याज्ञाता एकत्र होते हैं। इन्हें उपदेश करते हैं। यह पुराण वेद है। फिर कुछ पुराण सुनाना होता है। १३।

अब दशम दिन— धर्म इन्द्र राजा है। देवता उसकी प्रजा हैं। वे बैठे हैं। क्षोत्रिय सकलवेदज्ञ अप्रतिग्राहक-प्रतिग्रह न लेने के व्रती एकत्र होते हैं। उनको उपदेश होता है, ये साम वेद है। फिर साम के दस मन्त्र समूह— दस ऋचाओं के वर्ग का कथन करें। १४।

यहाँ दस दिन के दस वेद गिनाये गये हैं। यहाँ **ऋचां वेदः ऋग्वेदः** (ऋचाओं का वेद ऋग्वेद) जैसा कथन नहीं है अपितु ऋचः वेदः जैसा सामान्याधिकरण है। आरम्भ

'ऋचो वेदः' से तथा उपसंहार 'सामानि वेदः' से होता है। ये दोनों ही चतुर्वेद में हैं। अतः इनके मध्य में आये हुए ये अन्य सभी इनकी भाँति वेद हैं। किसी को भी औपचारिक मानने के लिए इस समान पदावलि में अवसर ही नहीं है।

वेद चतुष्टय तक ही वेद को देखने के स्थायी संस्कारों के कारण व्याख्यान्तर का आश्रय लेकर आग्रहिल होने का अवकाश भी भगवान् याज्ञवल्क्य ने नहीं दिया है अन्तिम कण्डिका पढ़कर :—

६८ **एतत् पारिप्लवम् (आख्यानम्) सर्वाणि राज्यानि आचष्टे, सर्वा विशः, सर्वान् वेदान्, सर्वान् देवान्, सर्वाणि भूतानि। सर्वेषां ह वै स एतेषां राज्यानां सायुज्यं सलोकतामश्नुते। सर्वासां विशामैश्वर्यमाधिपत्यं गच्छति। सर्वान् वेदानवरुन्धे। सर्वान् देवान् प्रीत्वा। सर्वेषु भूतेष्वन्ततः प्रतितिष्ठति, यस्यैवंविद् एतद्धोता पारिप्लवमाख्यानमाचष्टे।** १५।

यह पारिप्लव (आख्यान) है। होता इसमें सब राज्यों को कहता है, सभी प्रजाओं को, सभी वेदों को, सभी देवों को, सभी भूतों को कहता है। इस ज्ञान अनुभूति से पूर्ण ऐसा होता पारिप्लवाख्यान कहता है वह (यजमान) इन सभी राज्यों के सायुज्य सालोक्य का भोग करता है। सभी प्रजाओं के ऐश्वर्य और आधिपत्य को प्राप्त करता है। सभी वेदों को आत्मसात् कर लेता है, सभी देवों को प्रसन्न करने वाला होता है और अन्त में सभी भूतों में प्रतिष्ठित होता है।

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य है। व्याख्या ग्रन्थ व्याख्येय के प्रतिपाद्य से भिन्न अथवा प्रतिकूल बात नहीं कहता है, कहता है तो सद्व्याख्यान नहीं है। अतः याज्ञवल्क्य जैसे वेदविदों के अलंकार ऋषि के विषय में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता है कि वेदों की चार से अधिकता की मान्यता उनकी अपनी है।

स्वयं वेद भी पुराण इतिहास के नाम ले रहा है अतः इसमें याज्ञवल्क्य की अपनी मान्यता का प्रश्न ही नहीं उठता है। अथर्ववेद का उच्छिष्ट सूक्त का मन्त्र है :—

६९ **ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।**
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।। ११.७.२४

ऋचाएँ, साम, छन्द और पुराण यजु के साथ उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए जिस प्रकार द्युलोकस्थ देव द्यु में उत्पन्न हुए।

यहाँ ऋक् से यजु तक चार वेदों — ऋक्, साम, अथर्व तथा यजु के मध्य में आया **'पुराणम्'** निश्चित ही वेद है। पुराण के दो अर्थ हैं १. पुराना तथा २. शास्त्र विशेष। पुराना अर्थ यहाँ सम्भव नहीं है, पुराना अर्थ में यह विशेषण होता है। विशेषण सदैव

विशेष्यलिङ्ग तथा विशेष्यवचन अर्थात् विशेष्यनिघ्न होते हैं। यहाँ ऋच् शब्द के प्रथमा बहुवचन में ऋचः स्त्रीलिङ्ग है, पुराण प्रथमा एकवचन में नपुंसक लिङ्ग में है, अतः ऋचः का विशेषण नहीं हो सकता है। सामानि, छन्दांसि यद्यपि नपुंसक लिङ्ग के प्रथमा विभक्ति के पद हैं किन्तु बहुवचनान्त हैं अतः पुराण इन दोनों का भी विशेषण नहीं है। यजुस् शब्द के तृतीया एकवचन का पद यजुषा है यह भी नपुंसक लिङ्ग है किन्तु तृतीया विभक्ति में है अतः पुराण इसका भी विशेषण नहीं हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि विशेष्य के अभाव के कारण 'पुराण' यहाँ विशेषण नहीं है फलतः यह संज्ञा शब्द है तथा संज्ञा उसी पुराण की है जो आज इसी नाम से प्रसिद्ध है।

शास्त्र और वेद में निष्ठा हो तो यह एक प्रमाण ही यह मानने तथा समझने को यथेष्ट है कि पुराण वेद ही है किन्तु निष्ठा स्वमन्तव्य पोषण में ही हो तो दस प्रमाण भी पूर्णतया अकिंचित्कर हैं। इस वृत्ति और इसके परिणाम की निश्चितता बताने वाला भाव चरक संहिता के निम्नलिखित पद्य से व्यक्त होता है :—

७० **वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानि च।**
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद् गतौ।।

सूत्रस्थान २५/२५

वाद एवं प्रतिवाद को ही निश्चित मत के अनुसार बोलते हुए विचारक कभी पक्ष-निर्णायक सिद्धान्त तक नहीं पहुँच पाते हैं, जैसे तिल पेलने वाला निरन्तर चलते हुए भी स्थानान्तर जैसे गन्तव्य को नहीं पहुँच पाता है।

स्व-पर पक्ष जैसे वर्ग से हटकर शास्त्रालोचन करने वाला विद्वान् ही सिद्धान्त तक पहुँचने में सफल होता है जैसा कि भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने योगसिद्धा सुलभा के वचन से संकेत दिया है। राजर्षि जनक को सुलभा कहती है :—

७१ **न वर्गस्था ब्रवीम्येतत् स्वपक्षपरपक्षयोः।।** शान्तिपर्व ३२०/१९०

मैं स्वपक्ष अथवा परपक्ष जैसे किसी वर्ग में टिककर तुमसे यह सब कुछ नहीं कह रही हूँ।

भगवान् वेद के निर्णय को इसी विचार सरणि और संकल्प से प्रस्तुत करने हेतु अथर्ववेद व्रात्यकाण्ड के कुछ मन्त्र और उद्धृत हैं। यहाँ पुराण, इतिहास और गाथा का साहचर्य स्पष्ट बता रहा है कि पुराण विशेषण न होकर शास्त्र विशेष है :—

७२ (क) **स उत्तमां दिशमनुव्यचलत्।** १५.६.७
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्। ८।
ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद। ९।

वह व्रात्य उत्तम दिशा की ओर चला। ७। ऋचाएँ, साम, यजु और ब्रह्म (अथर्व) उसके पीछे चले। ८। ऋचाओं, सामों, यजुओं और ब्रह्म का वह प्रिय धाम होता है जो इसे अनुभूति के साथ जानता है।

ठीक ऐसे ही तीन ब्रह्म अर्थात् मन्त्र पुराणादि के विषय में निम्नलिखित रूप में हैं :—

(ख) **स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्।** १०।
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। ११।
इतिहासस्य च वै सः पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद। १२।

वह बृहती दिशा में चला। १०। इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी उसके पीछे चले। ११। वह इतिहास का, पुराण का, गाथाओं का और नाराशंसियों का प्रियधाम होता है जो यह अनुभव पूर्वक जानता है। १२।

ऋगादि की भाँति वेद मन्त्रों में पठित ये नाम निश्चित ही वेद के हैं। इन्हें तोड़मरोड़ कर वेद से भिन्न अर्थ में लेना वेद की अवमानना है। यह अवमानना श्री मनसारामजी वैदिक तोप ने 'पौराणिक पोल प्रकाश' में की है। वे इन मन्त्रों का अभिप्राय बताते हुए लिखते हैं कि :—

७३ **इस मन्त्र में 'पुराण' इतिहास का विशेषण है जिसके अर्थ में पुराना इतिहास अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास।** (पृष्ठ ३७१)

स्पष्ट है कि यहाँ भी पुराण को पुराना अर्थ में लिया गया है तथा इतिहास का विशेषण बताया गया है। पुनः 'पुराना इतिहास' को 'सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास' लिया गया है ये दोनों ही अर्थ ठीक नहीं है। जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि विशेषण रूप में पुराण अजहल्लिङ्ग नहीं है अपितु विशेष्यनिघ्न है फलतः यह इतिहास का विशेषण किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। किसी भी प्रकार का अभिप्राय यह है कि व्यत्यय आदि का यह क्षेत्र नहीं है। वेद में विशेषण विशेष्य की तुल्यलिङ्गता के शतशः प्रयोग हैं। पुराण पद से सम्बन्धित उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

७४ (क) **अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो**
यतो देवा उदजायन्त विश्वे। —ऋक् ४.१८.१

अनुवित्ति का विषय यह पुराण पन्था (पुराना मार्ग) है जहाँ से सभी देवों का उद्गम है।

पथिन् पुंलिङ्ग है अतः इसका विशेषण पुराण भी वैसा ही है।

(ख) **न तत्ते अन्यो अनुवीर्यं शकन्**
न पुराणो मघवन्नोत नूतनः। —ऋक् १०.४३.५

हे मघवन्! तुमसे अन्य कोई पुराना अथवा नया व्यक्ति तुम्हारे वीर्य का अनुगमन कर सका है।

पुंलिङ्ग 'अन्यः' के विशेषण पुराणः तथा नूतनः पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त हुए हैं। पुराण के विपरीतार्थक नूतन शब्द से यह भी स्पष्ट है कि पुराण यहाँ विशेषण ही है।

(ग) **पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभिशुम्भमाना।**
श्वघ्नीव कृत्नु विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः।।
—ऋक् १/९२/१०

यहाँ उषो देवी के विशेषण के रूप में पुराणी स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है।

(घ) **उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।**
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनुव्रतं चरसि विश्ववारे।।
—ऋक् ३/६१/१

उषा का विशेषण होने से पुराणी यहाँ भी स्त्रीलिङ्ग में है।

(ङ) **क्वस्विदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम्।**
शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न विज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः।।
—ऋक् ४/५१/६

पुराणी यहाँ भी स्त्रीलिङ्ग में है उषा का विशेषण होने से।

(च) **तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत।**
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः।। —ऋक् ९/९९/४

गाथा स्त्रीलिङ्ग है इसका तृतीया एकवचन का पद 'गाथया' है, इसका विशेषण होने से पुराणी भी तृतीया एकवचन में 'पुराण्या' है।

(छ) **पुराणमोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जह्नाव्याम्।**
पुनः कृण्वानाः सख्या शिवानि मध्वा मदेम सहनू समानाः।।
—ऋक् ३/५८/६

ओकस् नपुंसक लिङ्ग के प्रथमा एकवचन का पद 'ओकः' है, इसका विशेषण होने से 'पुराणम्' भी प्रथमा एकवचन में नपुंसक लिङ्ग का पद है।

(ज) **पुराणा वां वीर्या प्रब्रवाजनेऽथो हासथुर्भिषजा मयोभुवा।**
तां वां नु नव्यावसे करामहेऽयं नासत्याश्रदरिर्यथा दधत्।।
—ऋक् १०.३९.५

वीर्य का विशेषण पुराण है। वीर्य का प्रथमा एवं द्वितीया बहुवचन नपुसंक लिङ्ग में सामान्यतया 'वीर्याणि' पद बनता है। अतः इसका विशेषण भी नपुंसक लिङ्ग प्रथमा, द्वितीया बहुवचन में 'पुराणानि' होगा। वेद में वैकल्पिक रूप में अन्तिम वर्ण हट जाता है फलस्वरूप दोनों का रूप 'पुराणा वीर्या' है।

इस विवेचन तथा उदाहरण वाक्यावलि से स्पष्ट है कि पुरातन अर्थ में आया पुराण शब्द सदैव विशेष्य के लिङ्ग, विभक्ति, वचन के अनुसार ही प्रयुक्त होता है। उद्धरण संख्या ६९ ऋचः सामानि तथा उद्धरण ७१ ख में किसी का भी विशेषण न होने से 'पुराण' शास्त्रविशेष के अथवा वेद विशेष के नाम के रूप में नपुंसक लिङ्ग में है।

शास्त्रीय गंभीर मीमांसा में प्रवृत श्री मनसाराम जी स्व-पर पक्ष के मण्डन-खण्डन में अपने श्रद्धेय ऋषि दयानन्द को भी भूल गये हैं जो ६९वें उद्धरण में आये पुराण को शास्त्र स्वीकार करते हैं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के वेद संज्ञा, विचार प्रकरण में वे स्पष्ट शब्दों में इतिहास, पुराण को पृथक-पृथक् शास्त्र मानते हैं तथा सोदाहरण इनका स्वरूप भी प्रस्तुत करते हैं :—

७५ **ब्राह्मणग्रन्थेषु इतिहासादीनामन्तर्भावात्। तत्र-**
'देवासुराः संयत्ता आसन्' इत्यादय इतिहासा ग्राह्याः।
'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। —छां. उ. ६/२/१
'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्'।
—ऐत. ४/१
'इदं वा अग्रे नैव किञ्चिदासीत्'। —बृहदा. १.२.१ से साम्य

इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि।

यहीं पर कल्प, गाथा, नाराशंसी का भी सोदाहरण स्वरूप बताकर उपसंहार में पुनः स्पष्ट किया गया है :—

७६ **किञ्च तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यद् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञी पदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति, तद्यथा ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति।**
—भूमिका भास्कर प्रथम भाग ३०२

ऋषि दयानन्द सत्य के अनुसन्धाता तथा उपासक थे। सत्य के पक्ष को उजागर और प्रतिष्ठापित करने के लिए उन्होंने आजीवन संघर्ष किया तथा जीवन की आहुति तक भी स्वस्थ भाव से दे दी। उन्हें अपनी सर्वज्ञता का लेशमात्र भी गर्व नहीं था तथा सत्य को

स्वीकार करने के लिये सदैव उद्यत रहे थे। सहस्रों-सहस्रों वर्षों में ऐसी दिव्यात्मा का आविर्भाव होता है। वे यथार्थ में वेद के पुनरुद्धारक तथा प्रतिष्ठापक थे। वेदानुयायी विश्व पर उनका शाश्वत ऋषि ऋण है। उन्हीं अद्वितीय महापुरुष के अनुयायी उनके विचारों और वचनों के समर्थन के संदर्भ में शास्त्रानुसन्धान का स्वरूप ही भूल जाते हैं तथा कभी-कभी तो शास्त्रालोचन की दृष्टि ही खो देते हैं जो उद्देश्य साधिका तो कभी हो ही नहीं सकती है अपितु संकीर्णता की पक्की दीवार बन जाती है तथा सम्प्रदाय का नया रूप-सी लगती है। मौलिक चिन्तन के लिये उदार एवं व्यापक दृष्टि अनिवार्य है। अपने उत्साहातिरेक में इन विद्वानों ने यह कभी नहीं सोचा कि वेद में आये पुराण, इतिहास, गाथा आदि पदों से ब्राह्मण के विषयों का ग्रहण मानना स्वमन्तव्य विरुद्ध है तथा 'एव' = ही, द्वारा उसे वहीं तक नियमित करना मात्र स्वच्छन्दता का रूप है। जब वेदों को सनातन एवं अपौरुषेय तथा ब्राह्मणों को कृतक अर्थात् अनित्य एवं पौरुषेय मानते हैं तो वेद में आये इतिहास, पुराण, पद से ब्राह्मणगत इतिहास पुराण का ग्रहण कैसे सम्भव है? यदि वेद के पुराण पद से ब्राह्मणगत पुराण का ग्रहण सम्भव है तो श्रीमद्भागवत आदि का ग्रहण क्यों सम्भव नहीं है, पौरुषेयत्व, अनित्यत्व तथा आर्षत्व दोनों में समान है।

ऐसा नहीं है कि इस ओर किसी का ध्यान न गया हो, ऋषि निष्ठा तथा शास्त्र निष्ठा को पृथक्-पृथक् देखने की दृढवृत्ति वाले विद्वान् शास्त्र निष्ठा को नगण्य मानकर चुप रहे। ऋषि के प्रति हमारी निष्ठा उनकी शास्त्र निष्ठा की दृष्टि से ही है, इस सत्य को स्वीकार करने वाले विद्वानों में स्वनामधन्य पं. युधिष्ठिर मीमांसक अग्रणी रहे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की शताब्दी के अवसर पर सन् १९६७ में पूज्यवर्य मीमांसकजी ने लगभग २५०० टिप्पणियों से युक्त एक अतीव सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया। इस प्रकरण पर उनकी एक टिप्पणी है :—

७७ **इतिहासपुराणादिशब्दैर्ब्राह्मणान्तर्गता एव विशिष्टभागा उच्यन्त इत्यस्मिन् विषये शंकराचार्य-सायणाचार्ययोर्वचनानि पूर्वम् उद्धृतानि। यत्त्वत्राथर्ववेदस्य प्रमाणमुपन्यस्तं न तत्रेतिहासादिशब्दैर्ब्राह्मण-वचनानां ग्रहणं शक्यं विज्ञातुम्। कुतः तेषां मन्त्रापेक्षया परकालत्वात्।**

पूरे २१ वर्ष बाद अपने 'भूमिका भास्कर' में उपर्युल्लिखित टिप्पणी को ज्यों का त्यों उद्धृत करते हुए श्री विद्यानन्दजी सरस्वती ने इसका भावानुवाद भी दिया है :—

७८ **'यहाँ उद्धृत अथर्ववेद के मन्त्र में आये इतिहास आदि शब्दों से ब्राह्मणान्तर्गत इतिहास नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदोत्तरकालीन रचना होना निर्विवाद है।'** —पृष्ठ ३०२

ऐसी स्थिति में श्री मनसारामजी का लेख सत्य से अतिदूर तथा साम्प्रदायिकता से भरपूर प्रमाणित होता है जिस सम्प्रदाय परम्परा के ऋषि दयानन्द सदा विरोधी रहे हैं।

'ब्राह्मणगत इतिहास, पुराण आदि ही इतिहास, पुराण रूप में मान्य हैं' इन्होंने अपने इस मत की पुष्टि में सर्व श्री शंकराचार्य के तथा सायणाचार्य के उद्धरण आप्तसम्मतित्वेन प्रस्तुत किये हैं, क्या इस विषय में इन दोनों आचार्यों से भूल सम्भव नहीं है?

यदि इतिहास आदि को केवल ब्राह्मणगत ही माना जाए तो भगवान् यास्क के इस कथन का क्या होगा :—

७९ **'तत्र ब्रह्म इतिहासमिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।'** निरुक्त ४/६

इस वाक्य में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्म अर्थात् वेद इतिहासमय, ऋङ्मय तथा गाथामय होता है। ऋक् स्तुति मन्त्रों को कहते हैं, स्तुति गुण-गुणी के सम्बन्ध को बताती है। भगवान् व्यास कहते हैं :—

८० **स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदः सृष्टः स्वयम्भुवा।** —शा.प. ३२७.५०

स्वयम्भू ने देवों की स्तुति के लिए वेद की सृष्टि की है। स्तुति भी इतिहास ही है, गाथा भी इससे मुक्त नहीं है। ऋषि यास्क के इस वाक्य को विद्वानों ने क्यों नहीं देखा?

यदि भगवान् आद्यशंकराचार्य तथा चतुर्वेदभाष्यकार आचार्य सायण भी पुराणादि को ब्राह्मणों तक देखते हैं तो वे अथर्ववेदीय इस मन्त्र के विषय में क्या कहेंगे जिसमें पुराण का स्वरूप स्पष्ट किया गया है पुराणवेत्ता की प्रशस्ति के रूप में :—

८१ **येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः।**
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥ ११.८.७

इस दृश्यमान प्रपञ्च के पूर्व जो भूमि इसका उद्गम मूल थी और जिसे तत्त्वदर्शी विद्वान् ही जानते हैं, उसे जो नाम पूर्वक जानता है वही पुराणज्ञ माना जाता है।

यदि वेद में पुराण नाम की सृष्टि विद्या न होती, यदि उसके तत्त्वदर्शी साक्षात्-कृतधर्मा विपश्चित् न होते तो 'पुराणवित्' जैसा शब्द इस मन्त्र में नहीं आता। यही मन्त्र 'पुराणं पञ्चलक्षणम्' का आधार है। सर्ग प्रतिसर्ग के वर्णन के अभाव में पुराण पुराण नहीं है यह भी इससे सिद्ध होता है।

जब इतनी प्रचुर और स्पष्ट शब्दों वाली सामग्री प्राप्त है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि समाज में पुराण वेद जैसा व्यवहार क्यों नहीं पनपा? अर्वाचीनकालिक ग्रन्थों से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर पीछे जाते हुए वेदों तक पुराण का उल्लेख पाकर भी प्रौढ

अनुसन्धान करने वाले विद्वान् भी डंके की चोट के साथ पुराण को वेद क्यों नहीं कहते हैं? पुराण को वेद सम्मत, वेदसम्मित मानकर कैसे सन्तुष्ट हो जाते हैं?

इन प्रश्नों का उत्तर पाने का यत्न करने पर दो कारण ही सम्मुख आते हैं। इनमें प्रथम कारण है वेदों के स्वरूप का यथावद् बोध न होना। दूसरा कारण है पुराणों का वर्तमान स्वरूप जिसके कारण इन्हें परमश्रद्धा से देखते हुए भी वेद के रूप में नहीं देख सकते हैं। क्रमशः दोनों को देखने का प्रयास किया जा रहा है।

अपने बृंहण सहित इस विश्व में सर्वत्र एक ही सत्ता है जो ब्रह्म कही जाती है। श्रोतव्य, बोद्धव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य रूप में उपास्य वही एक सत्ता है। इस सत्ता की प्रतिपादक वाङ्मयराशि भी ब्रह्म है। ब्रह्म का ही अपर नाम वेद है।

अपने वाङ्मय रूप की कृत्स्नता की दृष्टि से वेद एक ही है। संहिताओं में तथा अन्यत्र भी इस अर्थ में वेद शब्द का प्रयोग हुआ है :—

८२ (क) **यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये।**
यो नमसाध्वरः।। —ऋग्वेद ८/९१/५

यहाँ 'वेदेन' तृतीया के एकवचन का पद है जो वैदिक मन्त्र तथा क्रियाकलाप का बोधक है।

(ख) **वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धसः इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।** —माध्य. १९/७८

सुत असुत रूपद्वय का पान यहाँ भी वेद के द्वारा बताया गया है। वहीं तृतीया एकवचन का रूप 'वेदेन' यहाँ है।

(ग) **अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया।**
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ।।अथर्व. १९/६८.१

उद्धृत्य का कर्म वेद द्वितीया के एकवचन में है इसका अर्थ है वेद को निकाल कर।

इन संहिताओं से भिन्न वैदिक तथा वेदेतर वाङ्मय में भी एकवचन वेद के प्रचुर प्रयोग हैं। पूर्व में उद्धृत क्रमांक ४-६, ९, २३, २४ द्रष्टव्य हैं।

इसी भाँति वेद का बहुवचन में भी प्रयोग सम्पूर्ण वाङ्मय में पुष्कल मात्रा में है। संस्कृत में बहुवचन पद न्यूनातिन्यून तीन की संख्या का बोधक है। अधिक रूपों में एक-एक की वृद्धि से परार्द्ध अथवा अनन्त संख्या का बोधक है।

प्रथम तीन वेदों का नाम देखते हैं :—

८३ (क) **ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव।** —माध्य. सं. १८/६७

यजमान (यज्ञ करता हुआ साधक) स्वयं को वेदमय कहता हुआ ऋक्, यजुः, साम बता रहा है, वेदमय कहते हुए भी चौथा नाम नहीं ले रहा है जिससे सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि वेद तीन हैं फलतः 'वेदाः' ऐसे स्थलों में तीन का बोधक है।

(ख) **विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।**
शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋचः सामाथो यजुः।।
—अथर्व ११.८.२३

यहाँ विद्याओं का, अविद्याओं का, उद्देश्य यावन्मात्र विषयों का, ऋचाओं, सामों तथा यजुः का शरीर में प्रवेश बताया गया है। जब सभी कुछ शरीर में प्रविष्ट है तो वेद की सम्पूर्णता इन तीनों ऋचा, साम, यजुः से हो जाती है, फलतः वेद तीन हैं यह वेद से भी प्रमाणित हो जाता है।

(ग) **ऋचस्ते सकला ह्येता यजूंष्येतानि चान्यतः।**
सकलानि च सामानि निपतन्ति त्वदङ्गतः।।मार्क. पु. ७८/११
ऋङ्मयस्त्वं जगन्नाथ त्वमेव च यजुर्मयः।
यतः साममयश्चैव ततो नाथ! त्रयीमयः।। १२।।

सूर्य के उपस्थान में कहा गया है कि एक ओर ये सभी ऋचाएँ, दूसरी ओर ये यजुः, साथ ही सभी साम तुम्हारे अंगों से गिर रहे हैं अर्थात् वर्षा की भाँति व्याप्त रूप से प्राप्त हो रहे हैं। हे जगन्नाथ! तुम (वस्तुतः) ऋङ्मय हो, तुम्हीं यजुर्मय हो, चूँकि साममय भी हो ही, इसी से त्रयीमय हो।

सूर्य से प्राप्त वेदसर्वस्व को ऋक्, यजुः, साम नामों से गिनाकर इसी से सूर्य को त्रयीमय कहना यही सिद्ध करता है कि वेद कुल तीन हैं। इसी कारण वेद का एक नाम 'त्रयी' भी है। ऐसे ही प्रसंगों से कोषकारों की प्रवृत्ति है वेद को त्रयी कहने की, प्रसिद्ध तथा प्राप्त कोषों में प्रथम अमरसिंह के नामलिङ्गानुशासन को ही लें जहाँ स्पष्ट कहा गया है :—

८४ **श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः।**
स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी ।। १/६/३

श्रुतिः, वेद, आम्नाय और त्रयी ये समार्थक हैं इनमें श्रुति स्त्रीलिङ्ग है। (वेद, आम्नाय अपने प्रथमा एकवचन के पदरूप में पुंलिङ्ग है तथा त्रयी भी इसी भाँति स्त्रीलिङ्ग है) वेद विधि धर्म है। ऋक्, साम और यजुः ये तीन वेद त्रयी हैं। इनमें ऋक् स्त्रीलिङ्ग

है। द्वन्द्वसमास से बोधित सामयजुषी साहचर्य से नपुंसक लिङ्ग है जो यजुषी के द्विवचनान्त पदरूप से ज्ञात है।

वेदों की तीन संख्या तक सीमित मानने वाली दृष्टि सर्वथा निर्मूल नहीं है। इसमें दोष इतना ही है कि इसमें 'त्रयी' पद का मर्म नहीं समझा है तथा वेदों का चार रूपों में अथवा उससे अधिकरूप में बताने वाले वचनों के साथ सामंजस्य न कर उनकी उपेक्षा की है।

८५ **चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।**
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।

यह मन्त्र ऋग्वेद (४.५८.३) में, माध्यन्दिन संहिता (१७.९१) में तथा काण्वसंहिता (१९.१५) में आता है। इसकी व्याख्या गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग २/१६ में, निरुक्त १३/७ में, पातञ्जल महाभाष्य पस्पशाह्निक में, यहीं भर्तृहरि ने, शबर स्वामी ने मीमांसा सूत्र १.२.३८ के अर्थवाद प्रसंग में, कुमारिलभट्ट आदि ने की है। श्रीमद्भागवत पुराण (८.१६.३१), स्कन्दपुराण धर्मखण्ड (२७/६५), नारदपुराण (३२/९) इसके भाव को पद्य रूप में लेते हैं। इस मन्त्र के देवता अग्नि, सूर्य, आपः, गौ तथा घृत हैं, उदाहरण रूप में सायणाचार्य ने सूर्यपरक व्याख्या की है। महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने पस्पशा भाष्य के 'तत्त्वालोक' नाम के व्याख्यान में शिवपरक व्याख्या की है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'उरु ज्योति' में आत्मपरक व्याख्या की है। ऋषि दयानन्द निरुक्त और महाभाष्य के अनुसार व्याख्या करते हैं।

समीक्षाचक्रवर्ती पं. मधुसूदन ओझा जी 'जगद्गुरुवैभव' में इसे निम्नलिखित पद्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं :—

८६ **शृङ्गाणि वेदाः सवनानि पादाः**
प्रवर्ग्यब्रह्मौदनयोः शिरस्त्वम्।
छन्दांसि हस्ता अथ मन्त्रकल्प-
स्वब्राह्मणैर्बद्ध इहास्ति यज्ञः।। पृष्ठ ३४

शृङ्ग वेद है, पाद सवन है, प्रवर्ग्य एवं ब्रह्मौदन शिर हैं, छन्द हाथ हैं, तथा मन्त्र, कल्प और अपने ब्राह्मण से यह यज्ञ तीन रूपों में बँधा हुआ है।

यज्ञरूप वृषभ के चार सींग ही चार वेद हैं। बिना नाम के चार संख्या बताना व्यञ्जित करता है कि ये चार वेद सभी के जाने-माने सुप्रसिद्ध ऋक्, यजुः, साम, अथर्व हैं।

वृषभ जैसे ही प्रतीक से अन्यत्र भी ४ वेदों की व्यंजना हुई है जैसे :—

८७ **चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा धृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।**
तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।।

—ऋक् १०.११०.३

यहाँ वेद को चतुष्कपर्दा—चार जूड़ों वाली युवति बताया गया है। ये चार जूड़े चार वेद हैं।

निम्नलिखित मन्त्र में इन चारों के नाम पुरुष से उत्पत्ति के रूप में बताये गये हैं :—

८८ **तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। ९।।

यह मन्त्र पुरुषसूक्त का है। ऋग्वेद (१०.९०), यजुर्वेद (माध्य. सं. ३१.७, काण्व सं. ३५/७), अथर्ववेद (शौनक सं. १९.६.१३, पैप्पलाद सं. ९.५.११) में भी पढ़ा गया है। यहाँ ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) तथा यजु. के नाम हैं। ये ही सर्वस्वीकृत चार वेद हैं। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में नामक्रम से ऋक्, यजुः, साम, एवं अथर्व रूप में इनका उत्पादन बताया गया है :—

८९ **यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।**
सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखम्।। १०.७.२०

इन नामों को प्रस्तुत करने वाला उद्धरण ७२ (क) भी यहाँ द्रष्टव्य है।
इस प्रकार चार वेद वाला यह व्यवहार सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं व्यापक है।

त्रयी पद से अथर्व. को छोड़कर शेष तीन तक ही वेदों की सत्ता मानने वाले इन वचनों की क्या व्याख्या करेंगे तथा त्रयी से चारों वेदों का ग्रहण जो वास्तविकता है, कैसे करेंगे, इसका उन लोगों ने कभी समाधान नहीं विचारा।

केवल बहुवचन 'वेद' शब्द से क्या इन चार वेदों को लिया जावे अथवा और भी वेदों को, यह भी विचारणीय है। अधोलिखित मन्त्र किसी निश्चित संख्या के प्रयोग के बिना केवल बहुवचन का प्रयोग करता है :—

९० **यस्मात् पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।**
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्।।

—अथर्व. ४/३५/६

मृत्यु का अतितरण कराने वाले ओदन में विश्वरूप वेदों के निहित होने का उल्लेख इस मन्त्र रूप में है। वेदों की विश्वरूपता को लेते हैं तो वेदों की संख्या की

इयत्ता का निर्धारण कठिन है। अपनी सहस्रशः शाखा प्रशाखाओं के रूप में पठित ये चार वेद अपने वाङ्मयरूप में उस विश्वरूपता को बताने में समर्थ नहीं हैं। विश्वरूप का यह अभिप्राय लेना काल्पनिक नहीं है।

पूर्व में शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण क्रमांक ६७(v) की कण्डिकाओं से १० वेदों की सत्ता बतायी गयी है।

अथर्ववेद ११.७.२४ के उद्धरण क्रमांक ६७(v) से पुराण का वेदत्व बताया गया है, इसके आधार पर ही छान्दोग्योपनिषत् ७.१.२ के उद्धरण क्रमांक ५९ के 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' के वेदानुकूल्य को भी बताया जा चुका है। ७२ ख के अथर्ववेदीय १५.६.१०–१२ उद्धरण में इतिहास और पुराण को पृथक्–पृथक् गिनकर गाथा और नाराशंसी को और गिना है, इस प्रकार आठ वेद होते हैं।

ऋग्, यजुः, साम, अथर्व. की भाँति इनकी कोई पृथक् संहिताएँ नहीं हैं, ऐसी स्थिति में इनका ग्रहण इन वेदों के साथ कैसे सम्भव है, यह एक विकट समस्या है, किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि समस्या का समाधान दुःशक्य है तो वेद के मन्तव्य को ही तिलाञ्जलि दे दी जावे।

इस समस्या के समाधान में उतरने के लिए वेद के स्वरूप को इन चार ऋगादि संहिताओं के स्वरूप से ऊपर उठकर भी देखना होगा।

वेद के दो रूप हैं :— शब्दरूप तथा इसका प्रतिपाद्य रूप। शब्द रूप को वाङ्मय वेद कहा जा सकता है तथा प्रतिपाद्य रूप को तत्त्ववेद। वाङ्मय वेद के भी बाह्यरूप और आन्तररूप भेद से दो रूप हैं। बाह्य में केवल शब्द कलेवर और आन्तर में उसका अर्थ आता है। इस तरह शब्द तनु, अर्थ प्राण तथा प्रतिपाद्य आत्मा है। विभिन्न भेदों की सत्ता के ये ही आधार हैं।

वाक्य रचना के दो मौलिक रूप हैं पद्य और गद्य। पद्यों का एक रूप गीति भी है। इन तीनों के वैदिक पारिभाषिक नाम ऋक् (पद्य), साम (गीति) तथा यजुः (गद्य) हैं। निर्विवादरूप में यही समस्त वैदिकों की मान्यता है जिसे भगवान् जैमिनि ने मीमांसादर्शन में निम्नलिखित सूत्रों में अनुशासित किया है :—

९१ **तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।** २.१.३५
गीतिषु सामाख्या। ३६
शेषे यजुः शब्दः। ३७

इनका अर्थ है — अर्थानुकूल पादव्यवस्थात्मक पद संघटना का पारिभाषिक नाम 'ऋक्' है। गीतियों के विषय में 'साम' नाम प्रयुक्त होता है। ऋक् तथा साम से भिन्न शेष

प्रकार 'यजुः' है। इनमें भिन्न कोई अन्य प्रकार सम्भव ही नहीं है। इन ऋक्, साम, यजुः रूप तीन अवयवों से सम्पन्न एक व्यक्ति का नाम 'त्रयी' है जो वेद में पर्यवसित होता है।

त्रयी का तीन अर्थ नहीं होता है, अपितु वह एक व्यक्ति जो तीन अवयवों वाला है, यही वास्तविक अर्थ है।

९२(क) भगवान् पाणिनि का अनुशासन है कि —

'संख्याया अवयवे तयप्' (अष्टाध्यायी ५.२.४२)

संख्या किसी के अवयव को बताने के अभिप्राय से प्रयुक्त है तो संख्या वाचक पद से अवयवी के सम्बन्ध में तयप् प्रत्यय होता है जैसे — पञ्च अवयवाः अस्य इति पञ्चतयम् = पाँच अवयवों की समष्टि वाला, इसी प्रकार चतुष्टयम्, दशतयम् आदि।

(ख) **द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** (४२)

संख्यावयव वाचक यदि द्वि अथवा त्रि हो तो इस तयम् के स्थान पर अयच् आदेश होकर एक दूसरा रूप भी हो जाता है द्वयम् त्रयम्। यदि अयच् आदेश न करें तो द्वितयम्, त्रितयम् जैसे शब्दरूप भी होंगे ही।

ये विशेषण शब्द होते हैं अतः विशेष्यनिघ्न होने से त्रिलिङ्ग होते हैं, उदाहरणों में त्रय को ही देखें :—

त्रयः अवयवा अस्य इति त्रयः वेदः, तीन अवयव इसके हैं अतः त्रय यह वेद है। वेद शब्द पुंल्लिङ्ग है अतः त्रयः भी पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है।

त्रयः अवयवा अस्याः इति त्रयी श्रुतिः, श्रुति के स्त्रीलिङ्ग होने से त्रयी भी स्त्रीलिङ्ग है, अर्थ है तीन अवयवों से बनी श्रुति त्रयी है।

इसी भाँति त्रयः अवयवा अस्य इति त्रयं ब्रह्म। ब्रह्म नपुंसक लिङ्ग है अतः 'त्रयम्' भी नपुंसक लिङ्ग प्रयुक्त हुआ है, तीन अवयवों से निष्पन्न ब्रह्म 'त्रयम्' है, यह इसका स्पष्ट अर्थ है।

अब हम निम्नलिखित द्वन्द्वों के अर्थगत भेद को स्पष्ट समझ सकते हैं :—

त्रयः वेदः	एक वेद	त्रयः वेदाः	तीन वेद।
त्रयी श्रुतिः	एक श्रुति	तिस्रः श्रुतयः	तीन श्रुतियाँ।
त्रयं ब्रह्म	एक ब्रह्म	त्रीणि ब्रह्माणि	तीन ब्रह्म

वाङ्मय में इनके अनेक प्रयोग हैं जिससे यह स्पष्ट है कि व्याख्या मात्र के लिये गृहीत यह शास्त्र की खींचातानी नहीं है :—

९३ (i) (क) **एतावान् वै सर्वो यज्ञः यावान् एषः त्रयो वेदः।**

—शतपथ ब्रा. ५/५/७/१०

समस्त भेदों सहित यज्ञ इतना ही है जितना ऋक्-यजुः-सामात्मक यह वेद है।

(ख) **स देवान् अब्रवीद् — एतेन यूयं त्रयेण वेदेन यज्ञं तनुध्वमिति। ते देवा अनेन त्रयेण वेदेन यजमाना अप पाप्मानमघ्नत प्र स्वर्गं लोकमजानन्।** —जै.ब्रा. १/३५८

उस प्रजापति ने देवों से कहा — तुम इस त्र्यात्मक वेद से यज्ञ का तनन करो। उन देवों ने ऋग्यजुस्साम रूप त्र्यवयव वेद से यजन करते हुए पाप को नष्ट किया तथा स्वर्ग लोक का प्रज्ञान प्राप्त किया।

(ग) **प्रजापतिर्वा इदं त्रयेण वेदेनाजयत् यदस्येदं जितं तत् स ऐक्षत। इत्थं चेद् वा अन्ये देवा अनेन वेदेन यक्ष्यन्ते इमां वावते जितिं जेष्यन्ति येयं मम।** —जैमिनीयोपनिषद् ब्रा. १.१.१.१

प्रजापति ने त्रय वेद से इस (विश्व प्रपञ्च) को जीता। अपने इस विजय को उसने (कार्यकारण भाव से) देखा (तथा निर्णय किया कि) इस प्रकार से अन्य देव भी इस वेद से यजन करेंगे, वे इस जीत को जो मैंने जीती है, जीत लेंगे।

(घ) **हन्तास्य त्रयस्य वेदस्य रसमाददा इति।** १.१.१.२

प्रजापति ने विचार किया मैं इस त्रय वेद का रस प्राप्त करूँ।

त्रय वेद शब्द का प्रथमा, तृतीया और षष्ठी विभक्तियों में प्रयोग इन उद्धरणों में है तथा सर्वत्र एक वचन में है।

इसी भाँति स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं :—

(ii) (क) **एतावानु वै यज्ञो यावत्येषा त्रयी विद्या, एतया हि त्रय्या विद्यया यज्ञं तन्वते।** —काण्वशतपथ

इतना ही यह विस्तार है कि जितनी यह त्रयी विद्या है। त्रयी विद्या से यज्ञ का तनन होता है। ऊपर उद्धृत (i) क, ख के भाव को वहाँ त्रयवेद से व्यक्त किया गया है यहाँ त्रयी विद्या से व्यक्त किया गया है, फलतः वेद और विद्या एकार्थक भी हैं, यह इससे ज्ञात होता है। इसी को शतपथ ब्राह्मण का उद्ध्रियमाण वचन कण्ठतः कह रहा है :—

(ख) **त्रयी वै विद्या, ऋचो यजूंषि सामानि।** ४.६.७.१

ऋक्, यजुः, साम ये त्रयी हैं जो निश्चित ही विद्या हैं।

(ग) **सैषा त्रयी विद्या यज्ञः।** —शतपथ ब्रा. १.१.४.३

वह यह ऋग्यजुः सामरूपा त्रयी विद्या यज्ञ है।

(घ) **ऋचैव हौत्रं क्रियते, यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथम्,**
व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते?
त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्। —ऐ. ब्रा. ५/३३

होता का कर्म ऋचा से ही होता है, अध्वर्यु का कृत्य यजुः से होता है, उद्गाता का कर्म उद्गीथ-साम से होता है, इस प्रकार त्रयी विद्या यज्ञ निमित्त से विविध रूप से आरम्भ कर देती है, जब तीन विद्या इस रूप में लग चुकी होती हैं तो ब्रह्मत्व किससे किया जाता है? जब ऋगादि के पृथक्-पृथक् होता आदि ऋत्विक् अपने कार्य में लग जाते हैं तो चतुर्थ ऋत्विक् ब्रह्मा अपना कार्य किससे करेगा वेद शेष न होने से, इस प्रकार प्रश्न न्याय्य है, उत्तर है वह भी त्रयी विद्या से ही ब्रह्मत्व करेगा। जब ऋगादि के बाहर कोई वेद है ही नहीं तो ब्रह्मवेद भी इन्हीं में समाविष्ट है अतः वह त्रयी से ही ब्रह्मत्व करेगा। ऊपर उद्धृत (i)(ii) के क, ख आदि वाक्य भी प्रकारान्तर से यही तथ्य प्रकट कर रहे हैं।

त्रयी शब्द वेद अर्थ में इतना प्रसिद्ध हो गया है कि विद्या अथवा श्रुति जैसे विशेष्य के बिना ही वेद अर्थ देने में अपने आप में पूर्ण हैं।

(ङ) **अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय।**
यमृषयस्त्रयीविदा विदुः ऋचः सामानि यजूंषि।
—तैति. ब्रा. १.२.१.६९

जिसे त्रयीविद् ऋषि ऋक्, साम और यजुः रूप में जानते हैं मेरे उस मन्त्र की हे अहिबुध्निय! तुम रक्षा करो।

यहाँ 'त्रयी' विशेषण रहित है और ऋगादि तीन की समष्टि को बता रहा है।

पूर्व में उद्धृत (८४) अमर सिंह का वचन भी केवल त्रयी को वेद अर्थ में गृहीत बता रहा है तदनुसार श्रुति, वेद, आम्नाय और त्रयी पर्यायवाचक हैं। यहाँ साथ ही वेद विधि को धर्म भी बता दिया, अब त्रयी का अर्थ 'ऋक्सामयजूंषि' इति वेदाः त्रयः से बता दिया। अमरसिंह का आधार पूर्व वाङ्मय प्रयोग ही है। गीता में भगवान् कृष्ण का वचन देखा जावे :—

९४ **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं**
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनु प्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।।९/२१।।

वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार सर्वतोभाव से त्रयीधर्म को आश्रित केवल कामनामय वे लोग आवागमन को ही प्राप्त करते रहते हैं।

यहाँ त्रयी का वेद रूप में स्वतन्त्र प्रयोग है। यद्यपि यहाँ वेद के अपराविद्या—रूप अर्थ पर विचार प्रासंगिक न होने से उस विषय पर अधिक विवेचन उपयुक्त नहीं है किन्तु त्रयी के स्वरूप को समझने की दृष्टि से यह बताना भी अनुपयुक्त नहीं है कि त्रयी शब्द वेद के संघटनात्मक बाह्यरूप मात्र को प्रकट करने के अभिप्राय से भगवान् कृष्ण द्वारा प्रयुक्त किया गया है अतः वेद की निन्दा जैसा भाव इस कथन में नहीं है।

इसी प्रकार का भाव 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' के निम्नलिखित पद्य में है :—

९५ (i) **त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति**
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

त्रयी, सांख्य, योग, पशुपति मत, वैष्णव मत आदि रूपों में प्रस्थानों की अनेक विविधता में यह परम पथ्य है, वह परम पथ्य है ऐसा मानकर रुचि की विभिन्नता से सीधे, टेढ़े-मेढ़े नाना मार्ग अपनाने वाले मनुष्यों के आप ही उसी प्रकार गम्य हैं जैसे जलों का सागर।

एकायन उपासना से प्राप्य भगवान् को यज्ञ यागादि जैसी विधि से पाने का यत्न आड़ा-टेढ़ा मार्ग है, यही त्रयी का अर्थ यहाँ प्रसंगानुकूल है।

जैसे वेद और विद्या के साहचर्य से त्रयः, त्रयी का प्रयोग वैसा ही प्रयोग ब्रह्म पद के साथ 'त्रयम्' का है :—

९५ (ii) (क) **अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।**
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्।। मनुस्मृति १/२३

ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, रवि से क्रमशः ऋग्, यजुः, साम रूप सनातन त्रय ब्रह्म का यज्ञसिद्धि के लिए दोहन किया।

ब्रह्म नपुंसक लिङ्ग में है अतः उसका विशेषण 'त्रयम्' भी नपुंसक लिङ्ग में है।

(ख) **ब्रह्म वै यदग्रे व्यभवत्—ऋक् साम, यजुः,**
तस्य वा एष रसो यद् यज्ञायज्ञियम्। —मैत्रा. सं. ४.४.९

सृष्ट्यारम्भ में जो यह ब्रह्म विभिन्न रूप में प्रादुर्भूत हुआ वे रूप ऋक्, साम, यजुः हैं। उसी ब्रह्म का यह रस है जो यज्ञायज्ञिय साम है।

वेद अथवा विद्या के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग इस मैत्रायणी संहिता में हुआ है तथा उसके ऋगादि तीन अवयव भी कहाँ कहे गये हैं। यही ब्रह्म मनुस्मृति में वर्णित है।

वेद एवं वैदिक वाङ्मय से भिन्न स्थलों में भी तीन अवयव वाली एक व्यष्टि के लिए त्रय शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यहाँ केवल दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(ग) **दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम !।**
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात् फलावहम्।। २२१/८

मत्स्य-पुराण के इस पद्य में भगवान् मत्स्य का मनु को उपदेश है — हे पुरुषोत्तम! दैव (भाग्य) पुरुषकार (उद्योग) तथा काल इन तीनों का एक पिण्ड-साहचर्य ही मनुष्य का फल दाता होता है।

महाभारत वनपर्व में ऐसा ही प्रयोग है :—

(घ) **धनुर्ग्राहश्चार्जुनः सव्यसाची**
धनुश्च तद्गाण्डीवं भीमवेगम्।
अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य
त्रयस्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र।। २३६/३०

धनुर्धर सव्यसाची अर्जुन, अतीव भयंकर वेगवाला वह (अद्वितीय) गाण्डीव धनुष तथा उस अर्जुन के वे (स्वर्ग से प्राप्त) दिव्य अस्त्र, ऐसा कौन यहाँ (कौरव सेना में) है जो एकीरूप इस त्रिक के तेज को सहन कर सके। भाव है तीनों पृथक्-पृथक् रूप में भी असह्य हैं तो तीनों के एकत्र संयोग के विषय में कहना ही क्या?

इस बाह्य रचना मूलक रूप में त्रयी में कृत्स्न वेद का रूप है कोई वेद इसके बाहर नहीं है।

वेद यज्ञ के लिए है, दूसरे शब्दों में कहें तो वेद की सार्थकता यज्ञ में ही है। जो वेद पुरुष है वही यज्ञ पुरुष भी है। वेद और यज्ञ का अविनाभाव सम्बन्ध है अतः वेद भी सनातन है तथा यज्ञ भी सनातन है।

मनुस्मृति के पूर्व उद्धृत (९५ ii क) पद्य के ठीक पूर्व का पद्य यज्ञ को सनातन कहता है :—

९६ **कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः।**
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्।। १/२२।।

उस प्रभु ब्रह्मा ने कर्मात्मदेवों तथा प्राणियों के गण को, साध्यों के सूक्ष्मगण को तथा सनातन यज्ञ को उत्पन्न किया।

यज्ञ के वास्तविक स्वरूप तथा त्रेता के प्रकरण से सम्बद्ध अर्थ को न जानने से विद्वानों में भी निम्नलिखित मन्त्रस्थ जैसे भावबोधक वचनों से भ्रान्त धारणा घर कर गयी है कि यज्ञ अति परवर्ती काल की सृष्टि है :—

९७ तदेत् सत्यम्—

मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्न्
तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा
एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।। मुण्डकोप. १/२/१

यह सत्य है— क्रान्तदर्शी मनीषियों ने मन्त्रों में जिन कर्मों को देखा है वह त्रेता— अग्नित्रय-- में अनेक प्रकार से फैले, सत्यसंकल्प से उनका तुम अवश्य आचरण करो, यही तुम्हारा सुकृत लोक का मार्ग है।

यहाँ त्रेता युग विशेष अर्थ में नहीं है अपितु विशिष्ट अग्नित्रय रूप में है। स्वयं वेद जब यज्ञ साधक चारों ऋत्विजों के कर्मों के विनियोग की चर्चा करता है तो यज्ञ असनातन अथवा अनित्य कैसे? ऋग्वेद का वह मन्त्र है :—

९८ **ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।**
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।।

— ऋग्वेद १०.७१.११

भगवान् यास्क ने त्व को विनिग्रहार्थीय सर्वनाम बताते हुए ऋचा को उद्धृत किया है तथा 'इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' कहकर इसकी व्याख्या निरुक्त (१/८) में की है। इस प्रकार यह ऋचा ऋत्विजों के (अपने अपने कर्मों का) विनियोग बता रही है, यह यास्क के कथन का अभिप्राय है।

एक ऋत्विक् होता ऋचाओं के पोष—पुष्टिकर रूप — को पुष्ट करता हुआ यज्ञ में आसीन होता है। एक ऋत्विक् उद्गाता ऋचाओं पर गायत्र साम गाता है। एक ऋत्विक् ब्रह्मा समय-समय पर यज्ञपूर्ति कर कर्मविद्या का कथन करता है। एक ऋत्विज् अध्वर्यु यज्ञ की विभुता को विभिन्न रूपों में सम्पादित करता है।

प्रत्येक ऋत्विज् के लिए अपेक्षित मन्त्रों को एकत्र पढ़ने की दृष्टि से इस त्रयी अर्थात् वेद को चार भागों में संकलित किया जाता है, इसका अर्थात् संकलित मन्त्र समूह का नाम संहिता है। होतृवेद मन्त्रों का पारिभाषिक नाम ऋक् है अतः यह वेद ऋग्वेद है, इसका संकलित एकत्र बद्ध रूप ही ऋक् संहिता है। आध्वर्यव—अध्वर्यु कर्म साधक मन्त्रों का नाम यजुः है। यह यजुर्वेद है, इनका एकत्र ग्रथित रूप यजुः संहिता है। साम ऋचाओं पर गायी जाने वाली गीतियाँ हैं। जिन ऋचाओं पर साम गाया जाता है वे ऋचाएँ सामयोनि

कहलाती हैं। सामयोनि ऋचाओं का संकलित समूह साम-संहिता है। गाये जाने वाले गीत सामवेद हैं।

इन तीनों ऋत्विजों के कर्म का ज्ञाता व्यक्ति वही होता है जिसको इन तीनों वेदों का पूर्ण ज्ञान हो, त्रयी विद्या के तेजोरस का निचोड़ ही ब्रह्मत्व का सम्पादक है जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है :—

९९ **यमेवामुं त्रय्यै विद्यायै तेजोरसं प्रावृहत् तेन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति।**

६/११

प्रजापति ने त्रयी विद्या के जिस तेजोरस को प्रकृष्ट रूप से बढ़ाया उस रस से ब्रह्मा ब्रह्मा होता है।

पूर्व उद्धरण देखे —

ब्रह्मा को अपना कर्म त्रयी से करना होता है, एतद् विषयक ब्राह्मण (५/३३) का उद्धरण (९३ ii घ) द्रष्टव्य है।

ऐसे ही आधार पर यास्क ऊपर उद्धृत (९८) ऋचा में ब्रह्मा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

'ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति, ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः।'

सर्व विद्या निधान ब्रह्मा होता है वह सभी प्रकार का ज्ञान देने की योग्यता रखता है, निर्वचन की दृष्टि से देखें तो ब्रह्मा श्रुतज्ञान से सर्वथा परिवृद्ध—बढ़ा-चढ़ा होता है।

कौषीतकि का प्र + अवृहत् तथा यहाँ का परिवृढ एक ही है, दोनों 'वृहू उद्यमने' धातु के क्रमशः क्रिया तथा कृदन्त पद हैं। कृत् यहाँ निष्ठा है भूतवृत्ति।

तीनों ऋत्विजों के कार्य को देखते हुए ब्रह्मा यज्ञ-नाशक प्रमादादि से उत्पन्न किसी भी क्रिया का प्रायश्चितादि विधान से निवारण कर यज्ञ को पूर्ति तक पहुँचाने में समर्थ होता है यही ब्रह्मा का अथर्वत्व है।

थर्व धातु का अर्थ है चलना, नष्ट होना, इसका निषेध अथर्वा है, अतएव इसे भिषक् तथा इसके कार्य को भैषज्य कहा गया है। भैषज्य वेद अथर्व वेद ही है, यह ब्रह्मा का प्रातिस्विक वेद है। इस प्रकार त्रयी चार रूपों में आकर चार वेद हो जाती है। वेद का यह विभाजन ही आज हमारे समक्ष है। अथर्वा के इस महत्त्व को ये कतिपय वचन बताते हैं :—

१०० (i) (क) **अथर्वा वै प्रजापतिः** गोपथ ब्रा. पूर्वभाग १/४

(ख) **येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्।** गोपथ ब्रा. पूर्वभाग ३/४

(ग) **भेषजं वा आथर्वणनि** ताण्ड्य ब्रा. १२/९/१०

अथर्वा प्रजापति—प्रजापालक है। जो अथर्वा हैं वे भेषज हैं। अथर्वा से दृष्ट मन्त्र तथा तत्कर्म भेषज हैं।

अपने इसी स्वरूप के कारण यह वेद 'अपरिमित' है।

(घ) **अथ ब्रह्म वदन्ति परिमिता वा ऋचः,**
परिमितानि सामानि, परिमितानि यजूंषि,
अथैतस्यैवान्तो नास्ति यद् ब्रह्म। —तैत्तिरीय सं. ७/३/१/४

अब ब्रह्मोद्य कहते हैं — ऋचाएँ परिमित हैं, साम परिमित हैं, यजुः परिमित हैं, बस इसी का अन्त नहीं है जो ब्रह्म है। ब्रह्म अथर्ववेद का नाम भी है। स्वयं यही वेद कहता है :—

(ii) (क) **तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।**

उद्धरण ७२ (क) में ये पूरे मन्त्र तथा इनका अर्थ दिया गया है। सभी वेदों की नामपूर्वक गणना में आया ब्रह्म पद अथर्व का ही नामान्तर है। इसका भेषज नाम भी यहाँ है :—

(ख) **यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा।**
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्तेनो मुञ्चन्त्वंहसः।। ११.६.१४

ऋचः, सामानि, भेषजानि तथा यजूंषि रूप में गणित इन नामों में 'भेषजानि' अथर्व का नाम है। ऋक् प्रातिशाख्य में आचार्य शौनक इसे सुभेषज कहते हैं :—

(ग) **सर्वा दाशतयीष्वेता उत्तरास्तु सुभेषजे।** १६/८७-८८

ये सभी छन्दोजातियाँ दाशतयी (दशमण्डल रूप अवयव वाली संहिताओं) में हैं, उत्तरवर्ती सुभेषज वेद (आथर्वणे, भाष्यकार उव्वट) में हैं।

ये यज्ञ व्यवस्था मूलक ४ वेद हैं जिनका ज्ञाता चतुर्वेद होता है।

यज्ञों में मन्त्रों का विनियोग शंसन, गायन, हविःप्रक्षेप तथा प्रायश्चित्तादि क्रियाओं के सम्पादन में होता है। यहाँ अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती है, किन्तु ऐसा भी नहीं है कि अर्थ की कहीं अपेक्षा हो ही नहीं। भगवान् मनु कहते हैं :—

१०१ **चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।**
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।। १२/९७
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।। १०२

चारों वर्णों का यह समाज, तीन लोक, पृथक्-पृथक् चार आश्रम, भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् सब कुछ वेद से सिद्ध होता है। वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व को जानने वाला, जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ, इस जीवलोक में स्थित रहते हुए वह ब्रह्मभाव प्राप्ति में सफल हो जाता है।

देश का दुर्भाग्य रहा है कि अति प्राचीन काल से ही वेदार्थ के प्रति उपेक्षा रही है। यज्ञयागादि की प्रवणता इस रूप में छायी रही थी कि जीवन के ऐहिक लाभ तथा पुण्य इन्हीं से मिल जाता है तो वेदार्थ ज्ञान का कष्ट क्यों करें। **'अनर्थका हि मन्त्राः'** (निश्चित ही मन्त्र अर्थशून्य हैं) जैसे भाव समाज में व्याप्त थे। भगवान् यास्क ने कौत्स द्वारा उपस्थापित इस प्रवाद के सभी पक्ष प्रस्तुत कर उनका निराकरण किया है तथा सिद्धान्त स्थापित किया है कि मन्त्र सार्थक हैं तथा इनका अर्थज्ञान करना ही चाहिए। स्वयं वेद भी अर्थज्ञान की प्रशंसा तथा अर्थाज्ञान की निन्दा करता है। एतद् विषयक दो मन्त्र इस प्रकरण के उपसंहार में यास्क ने प्रस्तुत किये हैं :—

१०२ (क) **उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।**
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।

—ऋक् १०/७१/४

एक वह है जो वाक् को देखते हुए भी नहीं देखता है, एक वह है जो इसे सुनते हुए भी नहीं सुनता है। इसके विपरीत एक के लिए यह अपना स्वरूप ऐसे प्रकट कर देती है जैसे कान्तिमती विदुषी सुवस्त्रा पत्नी पति के समक्ष स्वयं को प्रस्तुत करती है।

लिखित पुस्तक को आँखों से निकाल लेना, क्या कुछ लिखा है इस पर विचार न करना, देखते हुए भी न देखना है। यह वाणी का लेखरूप है। वेद प्रारम्भ से ही लेखबद्ध थे, इनका श्रुति नाम अन्य कारण से है। सुनते हुए अनसुना करना वाच्यरूप को बताता है।

दूसरा मन्त्र है :—

१०२ (ख) **उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।**
अधेन्वाचरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।। १०/७१/५

उस एक को वाक् सख्य में स्थिर रस पान किया हुआ कहते हैं, वाणी से ज्ञेय गम्भीर विषयों में उसे कोई पराजित नहीं कर पाता है। इसके विपरीत दूसरा वह है जिसने फल और पुष्पहीन वाक्श्रवण किया है ऐसा व्यक्ति कृत्रिम धेनु प्रतिरूप को साथ लिए विचरता है।

वस्तुतः अर्थ ही वाणी का पुष्प, फल है। यज्ञ को पुष्प और देवता को फल समझना चाहिये अथवा इससे एक स्तर ऊपर चलें तो देवता पुष्प और अध्यात्म फल है। अर्थज्ञान शून्य यज्ञ देवता तथा अध्यात्म में पैठ नहीं रखता है, यह यास्क का अभिप्राय है।

अर्थ की दृष्टि से वेद के विषयों को गिनना सम्भव नहीं है। ऊपर (१०१ क्रम पर) उद्धृत मनु-पद्य को ही लें। चार वर्णों के स्वरूप, धर्म आदि को लें, तीन लोक और उनके लोकियों को लें, चार आश्रम लें तो स्थूल रूप में ११ शीर्षक हैं। इनके पुराकल्प को लें, वर्तमान को लें तथा भविष्य की सम्भावनाओं को लें, नित्यधर्म लें, नैमित्तिक धर्म लें तथा काम्यधर्म लें, आपद्धर्म लें, लिङ्ग धर्म लें, परिवार, कुटुम्ब तथा वंश धर्म लें, व्यष्टि धर्म लें, सामाजिक धर्म लें, इस प्रकार भेदोपभेदों की एक ऐसी बड़ी सूची बनती है जिसको निश्चित संख्या में लेना अतिशय कठिन है। अतः ऋषियों ने घोषणा की कि 'अनन्ता वै वेदाः' । तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस तथ्य को बड़े सुन्दर रूप में बताया गया है :—

१०३ **भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास।**
तं जीर्णिं स्थविरं शयानम् इन्द्र उपव्रज्योवाच भरद्वाज!
यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति। ३।
ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच।
तं ह त्रीन् गिरिरूपान् विज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार।
तेषां हैवैकस्मात् मुष्टिमाददे।
स होवाच भरद्वाज इत्यामन्त्र्य वेदा वा एते।
अनन्ता वै वेदाः। एतद् वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः।
अथ त इतरदनुक्तमेव। ४ तै.ब्रा. ३/१०/११

भरद्वाज ने तीन पुरुषायु से ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में वास किया (तथा ब्रह्म-वेद—का ग्रहण किया) उसे जीर्ण स्थविर तथा (अशक्त सा) लेटा देखकर इन्द्र ने निकट जाकर कहा — भरद्वाज! यदि मैं तुम्हें चौथी (बार पुरुष की पूर्ण) आयु दूँ तो इससे तुम क्या करोगे? ३

उससे भी मैं वेदावाप्तिचर्या ही करूँगा, भरद्वाज ने उत्तर दिया। इन्द्र ने उसे तीन अनजाने से प्रशस्त गिरि दिखाये। उन तीनों में से एक-एक मुठी ली। भरद्वाज! ऐसा सम्बोधन कर (मुठी के सिकताकण दिखाकर) कहा — ये वेद ही हैं। (अब गिरियों को दिखाते हुए कहा) निश्चित ही वेद अनन्त हैं। उनमें से तुमने तीन आयु से इनका (मुठ्ठी में आये धूलिकणों का) अनुवचन किया है, किन्तु दूसरे वे तीन गिरि तो अनुक्त ही रहे हैं। (अनन्त पुरुषायुष पाकर भी इन अनन्त वेदों का पार पा सकोगे क्या?)

यहाँ तीन गिरि ऋक्, यजुः, साम हैं। इनमें से ली गयी एक-एक मुठी उनके कतिपय मन्त्रों की संहिता के रूप हैं। प्रत्येक संहिता का ग्रथन किसी-न-किसी शाखा के रूप में है, फलतः किसी एक वेद के सम्पूर्ण मन्त्रों का अध्ययन भी सम्भव नहीं है, तीनों वेदों की सभी शाखाओं के अध्ययन का तो कहना ही क्या?

याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से विभाजित वेदचतुष्टय की कम–से–कम महाभारत काल (ईसा पूर्व ३१०२ के पूर्व) में ११३१ शाखाओं के उल्लेख वाङ्मय में हैं, साथ ही अनेक शाखाओं के विनष्ट होने के भी। अतः आज तो किसी भरद्वाज का संकल्प भी नहीं हो सकता है कि सभी वेदों का स्वाध्याय करूँ।

सम्भवतः आज के मीमांसक तो इस आख्यान को भी अर्थवाद की कोटि में डालकर अभिप्राय ले लेंगे कि यह वेद के विस्तार तथा गहन रूप को बताता है तथा पूरा जीवन वेदोपासना में लगाकर भी हम कुछ कण ही प्राप्त कर सकेंगे। इस दृष्टि से भले ही यहाँ अर्थवाद की साधुता हो किन्तु वाङ्मय में वेद विषयक अनेक वचनों की संगति कैसे लगा सकेंगे। उदाहरण रूप में कुछ वचन यहाँ प्रस्तुत है :—

विष्णु सहस्रनाम (महाभारत अनुशासन पर्व १४९वाँ अध्याय) में भगवान् के ये नाम द्रष्टव्य हैं :—

१०४ (क) **वेदो वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवाहनः** ।। २७ ।।
त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक् ।। ७५ ।।
आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः ।। ११९ ।।

यहाँ वेद, वेदाङ्ग, साम, भेषज, त्रिसामा, सामग, सामगायन, वेदवित् तथा वेदवाहन तो स्पष्टतः वेदपरक नाम विष्णु भगवान् के हैं।

(ख)**वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः** ।। २२ ।।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।। ३२ ।।
बृहत् साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।। ३५ ।।

—गीता अ. १०

अर्जुन को विभूति–योग का परिचय देते हुए भगवान् कृष्ण वेदों में सामवेद को, विद्याओं में अध्यात्मविद्या को, सामों में बृहत्साम को तथा छन्दों में गायत्री को अपनी विभूति कहकर स्वयं का ही रूप बता रहे हैं।

(ग) **वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात् तद् वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम्।**
वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ क्लीबस्त्वात्मा तत्सवेद्यस्य वेद्यम्।।

—वन पर्व २००/११५

उस परमतत्त्व को, वेद को पूर्व (प्रथम स्थान) में रखकर प्रयत्न से जानना चाहिये, क्योंकि वही वेद है तथा वेद उसका शरीर है। उसकी समास उपलब्धि में वेद तत्त्व है इसके अभाव में आत्मा अकिंचित्कर है वह सवेद्य का वेद्य है।

(घ) **वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद् विपर्यय:।**
वेदो नारायण: साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम:।।

—भागवत पुराण ६/१/४०

विचारयन्नपि मुनिर्नाप वेदार्थनिश्चयम्।
वेदो नारायण: साक्षाद् यत्र मुह्यन्ति सूरय:।।

—वायु. पुराण १०४/५८

श्रीमद्भागवत् पुराण का कथन है कि धर्म वेद प्रणिहित है, इसके विपरीत अधर्म है। हम सुनते हैं कि वेद साक्षात् नारायण स्वयम्भू है।

वायु पुराण का वचन है कि विचार करते हुए भी मुनि व्यास वेदार्थ-निश्चय नहीं पा सके, (वस्तुत:) वेद साक्षात् नारायण है जहाँ सूरियों को भी मोह हो जाता है।

गीता, महाभारत तथा पुराणों के ये वेदस्तवन के प्रसंग वैदिक वाङ्मय से भी पूर्णत: समर्थित हैं। ब्राह्मण (आरण्यक, उपनिषत्) वाङ्मय में भी ऐसे शतश: वचन हैं:—

१०५ (क) **यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋच: स ऋचां लोक:। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोक:। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुष: सोऽग्नि:, तानि यजूंषि स यजुषां लोक:।१।**

सैषा त्रय्येव विद्या तपति। यद्धैतद् अपि अविद्वांस आहु: त्रयी वा विद्या तपतीति। २। शत. १०.५.२

अपने विनेयों को सूर्यमण्डल दिखाते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—यह जो मण्डल तप रहा है वह महदुक्थ है, यह ऋचा है, यही ऋचाओं का लोक है, इसमें यह जो किरण चमक रही है वह महाव्रत है, वह साम समुदाय है, वही साम लोक है। इस मण्डल में जो यह पुरुष है, वह अग्नि है, वह यजु है, वही यजुओं का लोक है।१। यह ऋक्सामयजु रूप वह 'त्रयी विद्या' ही तप रही है। इस मण्डल पुरुष को अविद्वान् तक भी कहते हैं कि यह त्रयी विद्या ही तप रही है। २। (१०.५.२.१-२)

यह वाङ्मय अर्थात् शब्दरूप वेद नहीं है अपितु तत्त्वात्मक वेद है जिससे भगवान् याज्ञवल्क्य के काल में सर्वसाधारण भी सुपरिचित थे। यह पुराण ही थे जिनसे सबको ऐसे निगूढ विषयों का ज्ञान था। पूर्वोद्धृत (८३ ग) उद्धरण द्रष्टव्य है जिसमें इस श्रुति के अनुवादक दो पद्य मार्कण्डेय पुराण के हैं। यहाँ ऐसा ही एक पद्य विष्णु पुराण का भी प्रस्तुत है :—

(ख) **सर्वशक्तिः परा विष्णोर्ऋग्यजुस्सामसंज्ञिता।**
सैषा त्रयी तपत्यंहो जगतश्च हिनस्ति या।। २/ ११/ ७

भगवान् विष्णु की परम आत्मशक्ति, जिसका ऋग्यजु:साम नाम है, वही यह 'त्रयी' तप रही है जो जगत् के पाप को नष्ट करती है।

जीवन के अस्तित्व, अभ्युदय तथा नि:श्रेयस में बाधा डालने वाले सभी भाव अंहः (पाप) हैं। जीवन की सर्वविध अनुकूलता प्रदान कराने वाला यह आदित्य मण्डल यथार्थत: पापनाशक है। इसे प्रकृति का एक स्थूल पिण्ड अतएव जड़ मानना, ब्रह्माण्डव्यापी एक अखण्ड चेतना अदिति से इसके सम्बन्ध को न देखना अवैदिकता है जिसका एक यह भी रूप है कि इनमें अधिदेवता की भावना करना।

शतपथ का यह अंश मण्डल पुरुषोपासना ब्राह्मण कहलाता है जो 'पुरुष ऐवेदं सर्वम्' का प्रत्यक्ष सत्यरूप है।

शतपथ जिसका ब्राह्मण है उस यजुर्ब्रह्म की माध्यन्दिनी तथा काण्व संहिताओं में इस पुरुष को अध्यात्मपुरुष के साथ एक कहा गया है :—

(ग) **हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।**
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।। —माध्य. ४०/१७

(घ) **पूषन्नेकर्षे यमसूर्यप्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह।**
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।
—काण्व. ४०/१६

जो वह पुरुष आदित्य में है वह मैं हूँ। ऐसा ही भाव दूसरे मन्त्र का है जो आदित्य प्राण में वह पुरुष है वह मैं हूँ। यहाँ असौ विप्रकृष्टार्थसूचक सर्वनाम अदस् का पदमात्र नहीं है अपितु व्यष्टि, समष्टि तथा महासमष्टि में समान रूप से विद्यमान पुरुष का व्यञ्जक भी है।

ऋगादि की सृष्टिमूलकता ब्राह्मणों में अनेक रूपों में अनेकशः कही गयी है, अर्थवाद कहकर उस विज्ञान से मुख मोड़ लेना आत्मघात ही है, चिरकाल से यह वृत्ति चली आ रही है। यदि ऐसा न होता तो देवी कुन्ती युधिष्ठिर को यह सन्देश न भेजती—

१०६ **श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।**
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी।। —उद्योगपर्व १३३/६

राजन्! मन्दबुद्धि, वाक् के यथार्थ रूप से अपरिचित श्रोत्रिय की भाँति अनुवाक विचार तक सीमित तुम्हारी बुद्धि तत्त्वार्थ दर्शन शीलता से शून्य है।

सत्य ही यदि ऐसी शून्यता न होती तो पूर्वोद्धृत (५८ क्रम) 'चत्वारि शृङ्गा' का वास्तविक अर्थ समझ में आ जाता कि शब्द की भाँति महान् देव 'यज्ञ' भी व्यक्ति में जन्म से ही प्रविष्ट है। सोलह अथवा अड़तालीस संस्कारों में गर्भाधान इष्टि भी है। इस प्राजापत्य यज्ञ के बिना जन्म सम्भव ही नहीं है। इस प्रकाश में भगवान् कृष्ण के 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टा' का भाव समझा जावे तो प्रत्यक्ष है कि वैध यज्ञों से भिन्न ब्रह्माण्डव्यापी यज्ञ संस्था है। ये यज्ञ तो उस प्राकृत यज्ञ की प्रतिकृति मात्र है यज्ञ विज्ञान को समझाने के लिए, वेद कहता है —

१०७ **एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः।५२।**
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत। —अथर्व.

प्रजापति ने इस ओदन से ही तैंतीस लोकों का निर्माण किया है। उनके प्रज्ञान के लिए यज्ञ की सृष्टि की। गीता का तथा यहाँ का प्रजापति एक ही है। यहाँ जिन्हें लोक कहा गया है वे ही वेद में अन्यत्र देव, वीर्य तथा तन्तु कहे गये हैं। इसी यज्ञ के विषय में कहा गया है :—

१०८ (क) **को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधिपुरुषे।** —अथर्व. १०/२/१४

इस अधिपुरुष में किस देव ने यज्ञ निहित किया।

(ख) **केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः।** १९

किस माध्यम से इसमें यज्ञ, श्रद्धा का तथा मन का निधान (स्थापन) किया।

न केवल यज्ञ अपितु विद्या, अविद्या, ऋचाएँ, साम और यजु भी शरीर में प्रविष्ट हुए हैं जिनसे सृष्टि होती है। यद्यपि (८३ ख) यह मन्त्र दिया जा चुका है तथापि इस प्रकरण में भी इसे पुनः दिया जा रहा है इसके महत्त्व को दृष्टि में रखकर :—

(ग) **विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।**
शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋचः सामाथो यजुः।। —अथर्व. ११/८/२३

निश्चित ही विद्याएँ, अविद्याएँ जो कुछ भी उपदेश से जाना जाता है वह सब कुछ, ऋचा, साम और यजु यह त्र्यात्मक ब्रह्म अर्थात् वेद शरीर में (संघटक रूप से) प्रविष्ट हुआ।

जिनका अध्ययन किया जाता है वे विद्याएँ, अविद्याएँ तथा उपदेश्य समस्त विषय ऋग्गादि वेद बुद्धि में प्रवेश पा सकते हैं, घोर ब्रह्मचर्य से, हृदय में भी प्रतिष्ठित हो सकते हैं किन्तु शरीर में प्रविष्ट होने जैसे तो वे कथमपि नहीं है। फलतः यह यज्ञ और ये वेद वैध यज्ञ एवं वाङ्मय वेद से सर्वथा पृथक् तत्त्व ही हैं।

यदि ये तत्त्व न होते तो उच्छिष्ट सूक्त के पूर्व उद्धृत (क्रम ६९) मन्त्र 'ऋचः सामानि' की संगत व्याख्या ही संभव नहीं है। इसी भाव का पुरुषसूक्त का निम्नलिखित मन्त्र है :—

(घ) **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। —माध्य. ३१/७

उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचाएँ, साम उत्पन्न हुए उससे छन्द उत्पन्न हुए उससे यजु उत्पन्न हुआ।

निश्चित ही सर्वहुत यह यज्ञ वैध यज्ञ न होकर प्राकृत यज्ञ है। वैध यज्ञ में ऋत्विक् मन्त्रों का उपयोग करता है। इस प्राकृत यज्ञ से जो यज्ञ पुरुष का एक अवयव है, वेद उत्पन्न हुए हैं तथा होते हैं। दोनों का यह अन्तर स्पष्ट है।

आचार्य महीधर यजु की व्याख्या में लिखते हैं :—

(ङ) **सर्वहुतस्तस्माद् यज्ञात् ऋचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नानि।**
छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे तस्माद्यजुरप्यजायत।
ऋग्यजुस्सामभिश्छन्दोभिश्च विना यज्ञा न सिध्यन्ति।

छन्द से आथर्वण मन्त्र ग्राह्य हैं, गायत्र्यादि छन्द नहीं। ऋक्, साम आदि छन्दोबद्ध ही होते हैं, इनके बिना छन्दों का अवतरण कैसे? इनका अन्तिम वाक्य भी ठीक नहीं है, जिस सर्वहुत् यज्ञ से ऋगादि अभी उत्पन्न हुए हैं उसकी सिद्धि किन ऋगादि से अभीष्ट है। उन ऋगादि तत्त्वों के बोधक ऋगादि वाङ्मय रूप से जो वैध यज्ञ के साधक हैं, यह अन्तर सम्भवतः भाष्यकार महीधर को स्पष्ट नहीं है।

इसी प्रसंग में अविद्या का अर्थ बता देना भी अभीष्ट है, ऊपर उद्धृत अथर्व मन्त्र में अविद्या योग आदि में सम्मत पञ्चपर्वा अविद्या, अथवा आद्य शंकराचार्य की माया अथवा सामान्यतया गृहीत अज्ञान नहीं है। यह अविद्या मृत्यु से तरण कराने वाली यज्ञादि कर्मशक्ति है। वेद का स्पष्ट कथन है :—

(च) **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।**

यह माध्य. तथा काण्व संहिता के चालीसवें अध्याय में पढ़ा गया है तथा ईशोपनिषत् शीर्षक से पृथक् कृत ग्रन्थ में भी है। अर्थ स्पष्ट है, अविद्या साधन से मृत्यु को पारकर विद्या साधन से अमृत को प्राप्त करता है। विद्या प्रतिद्वन्द्वी यदि अविद्या मानी जावे तथा वह शरीर की मूल है तो उसके निवारण का तो कोई उपाय ही नहीं है।

इन्हीं ऋगादि तत्त्वों से सृष्टि तैत्तिरीय ब्रा. के निम्नलिखित मन्त्र से बतायी गयी है :—

१०९ **ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः**
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्
सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।। ३/१२/९/३

समस्त मूर्तपिण्ड ऋचाओं से उत्पन्न हुए हैं, सभी गतियाँ सदैव यजुर्मूलक हैं। इसी भाँति यावन्मात्र तेज सामरूप हैं इस भाँति निश्चय ही यह सब कुछ वेद से ही सृष्ट है।

महाभारत शान्तिपर्व में भी वेद को सद्भूतोत्पादक स्थान कहा गया है :—

११० **सद्भूतोत्पादकं नाम तत्स्थानं वेदसंज्ञितम्।**
विद्यासहायो भगवान् त्रयास्ते हव्यकव्यभुक्।। ३४४/१२

सद्भूतों का उत्पादक वह स्थान वेद संज्ञा से प्रसिद्ध है। जहाँ भगवान् विद्या सहित विद्यमान रहते हुए हव्य और कव्य के भोक्ता हैं।

वेद के तत्त्वरूप के प्रतिपादक ये पर्याप्त निदर्शन हैं। तत्त्वरूप वेद की इयत्ता न होने से उसकी अनन्तता स्वतः सिद्ध है। इसी दृष्टि से वाङ्मय वेद भी तत्त्ववेद का प्रतिपादक होने से अनन्त है।

वाङ्मय वेद की इस विशाल राशि का संकेत वेदों की चार से अधिक संख्या बताते हुए यत्र-तत्र किया गया है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं :—

१११ **ऋग्वेदो वै भर्गः, यजुर्वेदो महः सामवेदो यशः,**
येऽन्ये वेदास्तत्सर्वम्। शत.ब्रा. १२.३.५.९

सवनों की पूर्णता पर 'मयि भर्गः, मयि महः, मयि यशः, मयि सर्वम्' के जप का विधान किया गया है। शतपथ में इन भर्ग आदि का अर्थ वेदों के सम्बन्ध से बताते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद भर्ग है, यजुर्वेद मह है, सामवेद यश है तथा (इनसे भिन्न) अन्य (सब) वेद सर्व हैं।

तीन अथवा तीन से अधिक होने पर संस्कृत में बहुवचन का प्रयोग होता है। 'वेदाः' बहुवचन है। अतः न्यूनातिन्यून तीन वेद भी लें, इनमें एक अथर्ववेद को मान लें तो भी ऋग्, यजुः, साम और अथर्व से अतिरिक्त दो वेदों की सत्ता प्रमाणित होती है। निश्चित ही यदि हम बहुवचन को दो के पश्चात् तीसरे से प्रारम्भ कर अनन्तता की ओर ले जाएँ तो अर्थ की इस सरणि में क्या बाधा हो सकती है। प्रस्तुत प्रसंग में इस अर्थ को दूसरी संख्या से ही जो वेदक्रम में पाँचवीं है लेना उपयुक्ततर है।

संघटना स्वरूप से वेद तीन, यज्ञोपयोग की दृष्टि से विभाजित वेद चार हैं। ये चार ही ग्रन्थ रूप में निबद्ध होने से व्यवहार सौकर्य के कारण निर्विवाद रूप से सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। अतः अर्थप्राप्त विषय निष्ठता की दृष्टि से प्राप्त प्रथम वेद पञ्चम क्रम पर ही होगा। यही कारण है कि पुराण, नाट्य, आयुर्वेद तथा ज्योतिष आदि सभी पञ्चम वेद कहे जाते हैं।

पूर्वोद्धृत (५९ क्रमांकीय) छान्दोग्य श्रुति के नारदवचन में पुराण को पञ्चम वेद कहने का यही कारण है। अपने अधीत विषयों में नारद उस ज्ञान को प्राप्त करने का इच्छुक है जिससे इस दृश्य प्राकृतिक प्रपञ्च से परे विद्यमान उस परासत्ता का बोध हो, जिसके पश्चात् कुछ ज्ञातव्य शेष न रहे। इसके लिए सृष्टि की वैज्ञानिक छानबीन आवश्यक है। उसके लिए वेदों को पुराण रूप में देखना आवश्यक है तथा इसमें भी पुनः अनेक वैज्ञानिक विषयों की जानकारी अपेक्षित है। नारद पुराण से आरम्भ कर इन विषयों की गणना करते हैं। साथ ही वे पुराण की प्रथम गणना का औचित्य भी 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' वाक्य से बता देते हैं।

इस विषय का प्राथम्य इतिहास पुराण के ग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी इसी भाव को लेकर बताया गया है। प्रारम्भ अथर्ववेद में ही मिलता है। पुनः उद्धरण ६९वें पर ध्यान देना होगा वहाँ चार वेदों के मध्य केवल पुराण का नाम ही पढ़ा गया है। पुनः उद्धरण ७२ ख को देखते हैं जहाँ ऋगादि चार वेदों के पश्चात् अव्यवहित रूप में इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी नाम पढ़े गये हैं।

पुराणेतिहास का एक नाम 'आख्यान' भी है। वायु पुराण में हिरण्यकशिपु को 'आख्यान पञ्चमवेद' पढ़ते हुए ही उत्पन्न हुआ बताया गया है :—

११२ (क) **स तु गर्भो विनिःसृत्य मातुर्वै उदरात् तदा।**
उपक्लृप्तासनं यत्तु होतुरर्थे हिरणमयम्।
निषसाद स गर्भोऽत्र तत्रासीनः शशंस च।। ६७/५८
आख्यानपञ्चमान् वेदान् महर्षिः कश्यपो यथा।
तं दृष्ट्वा मुनयस्तस्य नामाकुर्वंस्तु तद्विधम्।। ५९।।
हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन विश्रुतः। ....६०।।

प्रजापति कश्यप की पत्नी प्रजापति दक्ष की कन्या दिति थी। यह ज्येष्ठ पत्नी थी। इसके साथ कश्यप पुष्कर (बुखारा) में अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। गर्भवती होते हुए भी ज्येष्ठा होने से यह उस यज्ञ में पत्नीत्व रूप में थी। उस समय का यहाँ वर्णन है कि— चिरकाल से गर्भाशय में अवस्थित वह गर्भ उस समय माता के गर्भ से निकल कर उस सुवर्णमय आसन पर जा बैठा जो होता के लिए तैयार किया गया था। वहाँ बैठकर पञ्चम

वेद आख्यान के साथ चारों वेदों को इस प्रकार पाठ (पठन अर्थात् उच्चारण) करने लगा जैसे इसके पिता महर्षि कश्यप करते हैं। यह देखकर मुनियों ने उसका नाम उस क्रिया के अनुरूप 'हिरण्यकशिपु' रखा। इस प्रकार वह अपने कर्म से इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हिरण्य सुवर्ण का तथा कशिपु आसन का नाम है अतः हिरण्य के आसन वाला होने से वह हरिण्यकशिपु था।

महाभारत (उद्योग पर्व) में भी ऐसा प्रयोग है :—

(ख) **आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कत्थते जनः।** (सनत्सुजातीय पर्व)

महाराज धृतराष्ट्र का भगवान् सनत्सुजात के प्रति प्रश्नात्मक कथन है कि कुछ लोग आख्यान युक्त पाँच वेदों (के अध्ययन) से बहुत अधिक आत्मश्लाघा करते हैं।

श्रीमद्भागवतपुराण में वेदोत्पत्ति वर्णन में इतिहास पुराण की उत्पत्ति व्याख्यात्मक रूप में बड़े सुन्दर रूप से कही गयी है :—

(ग) **ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।**
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोभं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमैः।। ३/१२/३७
इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससर्ज सर्वदर्शनः।। ३९।।

महामना महात्मा विदुर के प्रश्न के उत्तर में ऋषि मैत्रेय कहते हैं कि चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने पूर्व आदि एक-एक मुख से क्रमशः ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद की तथा इनसे, शस्त्र, इज्या, स्तुतिस्तोभ तथा प्रायश्चित्त की सृष्टि की, ईश्वर (ब्रह्मा) ने जो सर्वदर्शन हैं, पञ्चम पुराण की सृष्टि सभी मुखों से की।

किसी एक वेद का उपवेद पुराण नहीं है, अतः आयुर्वेदादि की भाँति इसकी किसी एक मुख से उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है। सभी वेदों से इसमें सृष्टि विज्ञान विषय गृहीत है अतः सभी वेदों की विवृति इसमें होने से इसे सभी मुखों से उत्पन्न बताया गया है, अतः पूर्ण वेदत्व होने से यह 'पञ्चम वेद' है।

ऐसी ही उत्पत्ति नाट्य वेद की है अतः उसे भी पञ्चम वेद कहा गया है :—

११३ (क) **न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।**
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।। नाट्य शास्त्र १.१२

इन्द्र सहित सभी देव ब्रह्मा जी से प्रार्थना कर रहे हैं कि शूद्रों में वेदव्यवहार भलीभाँति सुनाने योग्य नहीं है अतः आप सब वर्णों में प्रस्तुत करने योग्य पञ्चम वेद की रचना कीजिए। ब्रह्मा द्वारा कहे जाने अथवा रचे जाने वाले इस वेद को 'पञ्चम वेद' कहा गया है।

(ख)**एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।**
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्।। १३।।

'ऐसा ही होगा' यह वचन देवों को देकर तथा देवराज इन्द्र को विदा कर वेदतत्त्ववेत्ता ब्रह्मा ने योगाविष्ट होकर चारों वेदों का स्मरण किया।

यहाँ वेदस्मरण को समझने की आवश्यकता है। योग धारण करने का भाव है कि नाट्य वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण सामग्री को पूर्णतया ध्यान में रखकर वेद मन्त्रों का मानसिक वाचन किया तथा अभीष्ट सामग्री को स्मृति में एकत्र किया। स्मरण अर्थात् नाट्यतत्त्वों की प्रमुखता के आधार पर वेद मन्त्रों को बुद्धिस्थ करना है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा वेद के सम्पूर्ण विषयों को पहले से ही पृथक्-पृथक् देख चुके थे। अतएव भागवत (के उपरि उद्धृत ११२ ग) में इन्हें सर्वदर्शन (सभी विषयों के द्रष्टा) कहा गया है। यही रूप 'ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वेदम्' (उद्धरण ३५) का है।

इस प्रकार वेद स्मरण कर ब्रह्मा ने संकल्प किया :—

(ग)**सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।**
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।। १६।।
एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।। १७।।

नाट्योपयुक्त शास्त्रीय सभी विषयों से परिपूर्ण आत्मसंस्कृति तथा प्रतिरूपात्मक अपेक्षित सब शिल्पों के प्रवर्तक इतिहास युक्त पञ्चम वेद नाट्य की रचना करूँ, ऐसा संकल्प लेकर सभी वेदों का अनु-स्मरण करते हुए ब्रह्मा ने चारों वेदों के अंगों से सम्भूत 'नाट्यवेद' का निर्माण किया।

इसी भाँति आयुर्वेद को भी पञ्चम वेद कहा है :—

११४ (क) **कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः।**
स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः।। १६/१०

ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड का यह पद्य कह रहा है कि—विभु (ब्रह्मा) ने पञ्चम वेद का निर्माण कर भास्कर (सूर्य) को दिया। उससे अपनी स्वतन्त्र संहिता (भास्कर संहिता) का निर्माण भास्कर ने किया।

ब्रह्मा से भास्कर को प्राप्त यह ज्ञान विधाता की अपनी 'ब्रह्म संहिता' के माध्यम से ही प्राप्त हुआ ऐसा प्रतीत होता है। भाव मिश्र ने 'भाव प्रकाश' में ब्रह्मसंहिता के निर्माण का उल्लेख किया है :—

(ख)**विधाताथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।**
स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्।। १/१

'भाव प्रकाश' के इस पद्य का अर्थ स्पष्ट है कि अथर्ववेद के सर्वस्व आयुर्वेद को प्रकाशित करते हुए विधाता ने एक लाख पद्यों वाली सरल अपने नाम की संहिता बनायी।

चिकित्सकों का वेदाध्ययन के पश्चात् अध्येतव्य प्रथम विषय आयुर्वेद ही है अतः इसका भी पञ्चम वेदत्व स्पष्ट है।

इसी भाँति ज्योतिष भी समस्त वेदों के मध्य से ब्रह्मा द्वारा वसिष्ठ को दिया गया। 'पञ्चसिद्धान्तिका' में आचार्य वराहमिहिर का प्रतिपादन निम्नलिखित रूप में है :—

११५ **वेदैः सह समुद्भूतं वेदचक्षुः सनातनम्।**
रहस्यं वेदमध्यस्थं स्मृतवान् यत् पितामहः।।
तेन पैतामहं ज्ञानमाद्यं तच्छ्रुतिसम्मतम्।
तेन दत्तं स्वपुत्राय वसिष्ठाय महात्मने।।

पितामह ने वेदों के साथ उत्पन्न, सनातन वेदचक्षु, वेदमध्यस्थ जिस रहस्य का स्मरण किया वह ज्योतिष विषयक ज्ञान इसी कारण से पैतामह कहलाता है। यह आद्य तथा श्रुति सम्मत है। पितामह ब्रह्मा ने अपने पुत्र महात्मा वसिष्ठ को यह ज्ञान दिया।

छः वेदाङ्गों में इसकी गणना होने से इसे सम्भवतः पञ्चम वेद नहीं कहा गया है। इसे वेद मध्यस्थ, सनातन, वेदों के साथ उत्पन्न तथा ब्रह्मा से स्मृत बताना इन पुराणादि की भाँति ही है। ब्रह्मा ही इसके प्रथम द्रष्टा थे यह 'आद्य' विशेषण से स्पष्ट है।

इसी भाँति संगीत को पञ्चम वेद माना गया है। आचार्य राजशेखर ने साहित्य विद्या को पाँचवीं विद्या गिना है।

'अनन्ता वै वेदाः' की गणना अपने वेद को पाँचवाँ वेद मानकर आगे चलती है। इस विषय के ये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। पाँचवाँ वेद स्वयं का गिनकर यदि गणना को आगे बढ़ाना आवश्यक हो तो फिर तात्कालिक स्मृति के अनुसार किसी भी क्रम को लिया जा सकता है।

ऐसी ही गणना पुराण के पश्चात् नारद ने पित्र्य, राशि आदि १२ वेदों की है। इसमें १७ वेद कुल गिने गये हैं। वेद के ये नाम मस्तिष्क में जमते नहीं है। ऐसा भी विद्वानों का विचार हो सकता है, अतः ऐसे ही कुछ नाम गोपथ ब्राह्मण से प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

११६ **स दिशोऽन्वैक्षत प्राचीं दक्षिणां प्रतीचीमुदीचीं ध्रुवामूर्ध्वामिति।**
तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत्। ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः

सन्तप्ताभ्यः पञ्चवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहास-वेदं पुराणवेदमिति।

स खलु प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत दक्षिणायाः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्च ऊर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्।

स तान् पञ्चवेदानभ्यश्राम्यद् अभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः पञ्च महाव्याहृतीर्निरमिमत वृधत् करद् गुहत् महत् तदिति।

वृधदिति सर्पवेदात्, करदिति पिशाचवेदात्, गुहदित्यसुरवेदात्, महदितीतिहासवेदात्, तदितिपुराणवेदात्।

स य इच्छेत् सर्वैरेतैः पञ्चभिर्वेदैः कुर्वीय इत्येताभिरेव तद् महाव्याहृतिभिः कुर्वीत सर्वैर्ह वा अस्यैतैः पञ्चभिर्वेदैः कृतं भवति य एवं वेद। पूर्व १/१०

ब्रह्म ने दिशाओं को — पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा को देखा। उन दिशाओं को उनके अपने ही स्थान पर श्रम कराया, तपाया तथा सन्तप्त किया। उन श्रान्त, तप्त और सन्तप्त दिशाओं से पाँच वेदों का — सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराण वेद का निर्माण किया।

उसने निश्चय ही पूर्व दिशा से सर्पवेद का, दक्षिण से पिशाचवेद का, प्रतीची (पश्चिम) से असुरवेद का, उत्तर से इतिहासवेद का, ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशा से पुराण वेद का निर्माण किया।

अब उसने उन पाँच वेदों को श्रम कराया, अभितप्त किया, सन्तप्त किया। उन श्रान्त, तप्त, सन्तप्त पाँच वेदों से वृधत्, करत्, गुहत्, महत् और तत् इन पाँच महाव्याहृतियों का निर्माण किया।

वृधत् का सर्पवेद से, करत् का पिशाचवेद से, गुहत् का असुरवेद से, महत् का इतिहास वेद से तथा तत् का पुराण वेद से निर्माण किया। जो कोई यह चाहे कि मैं इन सभी पाँचों वेदों से करूँ, अपने उस संकल्प को इन महाव्याहृतियों से करें, उसका यह कार्य इन पाँच वेदों से ही किया हुआ होगा। जो यह जानता है, यह जानता हुआ इन महाव्याहृतियों से ही करता है।

यहाँ स्पष्ट ही सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद नाम पढ़े गये हैं। इनका दिक् सम्बन्ध एवं महाव्याहृति सम्बन्ध भी बताया गया हैं। इनके वेदत्व में सन्देह नहीं होना चाहिए। ये ब्राह्मण वचन है। ब्राह्मण भी एक ऐसे ऋषि के हैं जो मन्त्र

द्रष्टा भी है। अथर्ववेद में १९वें काण्ड में ४७. से ५० तक चार सूक्त इन्हीं के दृष्ट हैं जिनमें क्रमश: ९+६+१०+७ = ३२ मन्त्र हैं। ये ऋषि हैं गोपथ।

ऐसा भी नहीं है कि यह विषय केवल एक बार ही आया है। इसी (पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक के) प्रकरण में ओम् की सृष्टि से सम्बन्धित १६ से २२ तक ७ कण्डिकाओं में २१वीं कण्डिका इन और इनसे अतिरिक्त भी विषयों का स्मरण करती है :—

११७ **तस्य मकारश्रुत्या इतिहासपुराणं वाकोवाक्यं गाथा नाराशंसी उपनिषदः अनुशासनानीति वृधत् करद् गुहत् महत् तत् शमोम् इति व्याहृतिः स्वरशम्यनानातन्त्रीः स्वरनृत्यगीतवादित्राणि अन्वभवत् चैत्ररथं दैवतं वैद्युतं ज्योतिर्बार्हतं छन्दः त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ ध्रुवामूर्ध्वां दिशं हेमन्तशिशिरावृतू श्रोत्रमध्यात्मं शब्दश्रवणम् इति इन्द्रियाणि अन्वभवत्।**

यहाँ वाकोवाक्य, गाथा, नाराशंसी, उपनिषत् तथा अनुशासन नाम अधिक हैं, इतिहास पुराण के पश्चात् उनके साथ उसी क्रम में पठित इन नामों का वेदत्व स्पष्ट है। वृधत् करत् आदि महाव्याहृतियों की गणना से इनसे सम्बद्ध सर्पवेद, पिशाचवेद तथा असुरवेद स्वत: गृहीत हैं।

वेद के ऐसे नाम प्रसिद्ध नहीं है सुने नहीं गये हैं तो यह वेद का अथवा वाङ्मय का दोष नहीं है, हमारा दोष है। 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' यह किसी ठूँठ अथवा खम्भे का अपराध नहीं है जो अन्धा इसे नहीं देख पाता है और टकरा जाता है। हमारी प्रज्ञान्धता ही इसमें हेतु है कि हम इतने स्पष्ट विषय को भी नहीं देख पाते हैं।

जैसा कि उद्धरण ७२ क तथा ख से बताया गया है कि ऋग्वेदादि के सर्वथा तुल्य ही इतिहास, पुराण आदि का व्रात्य का अनुगमन बताया जाने से दोनों में किसी भी प्रकार का व्याख्याभेद सम्भव नहीं है औचित्य के अभाव में।

यहाँ उद्धरण ११६ में जैसे सर्पवेदादि की उत्पत्ति बताने वाली कण्डिका प्रस्तुत की गयी है ठीक वैसी ही कण्डिका ऋगादि वेदों के विषय में है :—

११८ **स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यद् भूय आत्मानं समतपत्। स आत्मत एव त्रींल्लोकान् निरमिमित-पृथिवीमन्तरिक्षं दिवमिति। स खलु पादाभ्यामेव पृथिवीं निरमिमीत, उदरादन्तरिक्षं मूर्ध्नो दिवम्।**

स ताँस्त्रिलोकानभ्यश्राम्यद् अभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमीत-अग्निं

वायुमादित्यमिति। स खलु पृथिव्या एवाग्निं निरमिमीत अन्तररिक्षाद् वायुं दिव आदित्यम्।

स ताँस्त्रीन् देवान् अभ्यश्राम्यद् अभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमीत—ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति। अग्नेः ऋग्वेदं वायोः यजुर्वेदमादित्यात् सामवेदम्।

स ताँस्त्रीन् वेदानभ्यश्राम्यद् अभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्तिस्रो महाव्याहृतीः निरमिमीत-भूर्भूवः स्वरिति। भूः इति ऋग्वेदात्, भुवः इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्।

स य इच्छेत् सर्वैरेतैः त्रिभिः कुर्वीय इति एताभिः एव तद् महाव्याहृतिभिः कुर्वीत। सर्वैः ह वा (वै) अस्य एतैः त्रिभिः वेदैः कृतं भवति।

य एवं वेद यः च एवं विद्वान् एवम् एताभिः महाव्याहृतिभिः कुरुते। ६।

ठीक ऐसा ही अक्षरशः पाठ नामों के अन्तर को छोड़कर उद्धरण ११६ का है। ऐसी अवस्था में अभिप्राय-भिन्नता कैसे मानी जा सकती है।

गोपथ जैसा ही कथन ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा जैमिनीय ब्राह्मण का है। ये क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के ब्राह्मण हैं। इस प्रकार यह विषय चारों वेदों के, चारों ब्राह्मणों का सर्वथा समान होने से निर्विवादरूप में सर्वसम्मत है।

यद्यपि स्रोत निर्देश ही यहाँ पर्याप्त है किन्तु सभी को सर्वत्र सभी ग्रन्थ सुलभ नहीं होते हैं अतः जिज्ञासुवर्ग की सुविधा के लिए सभी के उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं। सम्पूर्ण पाठ्य सम्मुख होने से अध्येता को पूर्ण सन्तोष भी मिलता है कि अपनी मान्यता को बलात् थोपने का प्रयास लेखक द्वारा नहीं किया गया है, साथ ही वह सामग्री स्मरण के क्षेत्र में स्वमति से भी विषय को जानने, समझने और स्वीकारने के लिए स्वतन्त्र है।

ऐतरेय, शतपथ तथा जैमिनीय ब्राह्मणों के क्रम में ये उद्धरण हैं :—

११९ **प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इमान् लोकान् असृजत पृथिवीम् अन्तरिक्षं दिवम्।**

तान् लोकान् अभ्यतपत् तेभ्यः अभितप्तेभ्यः त्रीणि ज्योतींषि अजायन्त — अग्निः एव पृथिव्या अजायत वायुः अन्तरिक्षाद् आदित्यः दिवः।

तानि ज्योतींषि अभ्यतपत् तेभ्यः अभितप्तेभ्यः त्रयः वेदा अजायन्त— ऋग्वेद एव अग्नेः अजायत यजुर्वेदः वायोः सामवेदः आदित्यात्।

तान् वेदान् अभ्यतपत् तेभ्यः अभितप्तेभ्यः त्रीणि शुक्राणि

अजायन्त—भूः इत्येष ऋग्वेदाद् अजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वर् इति सामवेदात् इति। ऐत. बा. २५/७

यहाँ देवों को ज्योति तथा व्याहृतियों को शुक्र कहा गया है।

१२० (क) **प्रजापतिः वा (= वै) इदमग्रे आसीद् एक एव। सोऽकामयत—स्यां प्रजायेय इति। सः आश्राम्यत सः तपः अतप्यत। तस्मात् श्रान्तात् तेपानात् त्रयः लोकाः असृज्यन्त—पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः।** शतपथ ११.५.८.१

स इमान् त्रीन् लोकान् अभितताप। तेभ्यः तप्तेभ्यः त्रीणि ज्योतींषि अजायन्त—अग्निः, यः अयं पवते, सूर्यः। २।

स इमानि त्रीणि ज्योतींषि अभितताप। तेभ्यः तप्तेभ्यः त्रयः वेदा अजायन्त — अग्नेः ऋग्वेदः, वायोः यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः। ३।

स इमान् त्रीन् वेदान् अभितताप तेभ्यः तप्तेभ्यः त्रीणि शुक्राणि अजायन्त — भूः इति ऋग्वेदात्, भुवः इति यजुर्वेदात्, स्वः इति सामवेदात्। ४।

यहाँ भी देवों को ज्योति तथा व्याहृतियों को शुक्र कहा गया है।

यहाँ अकामयत, अश्राम्यत तथा अतप्यत ये तीन क्रियाएँ प्रजापति के लिए प्रयुक्त हुई हैं जो क्रमशः मन के व्यापार, वाक् के व्यापार तथा प्राण के व्यापार को बता रही हैं। वेद (विज्ञान) में आत्मा को मनोमय, प्राणमय तथा वाङ्मय माना गया है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं :—

(ख)**एतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः।**

— बृहदा. १/५/३

निश्चित ही यह आत्मा इन पर्वों वाली है जो वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय है। अभिप्राय है कि वाक्, मन, प्राण की समष्टि आत्मा है।

सर्वथा यही विषय जैमिनीय ब्राह्मण का है :—

१२१ **अथ प्रजापतिः प्राजिजनिषत। स तपः अतप्यत। स ऐक्षत—हन्त नु प्रतिष्ठां जनये, ततः याः प्रजाः सृक्ष्ये तामेतदेव प्रतिष्ठास्यन्ति नाप्रतिष्ठिताः चरन्तीः प्रदर्पिष्यन्त इति।**

स इमं लोकम् अजनयद् अन्तरिक्षलोकम् अमुं लोकम् इति। तान् इमान् त्रीन् लोकान् जनयित्वाभ्यश्राम्यत् तान् समतपत्। तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः

त्रीणि शुक्राणि उदायन्—अग्निः पृथिव्याः, वायुः अन्तरिक्षाद्, आदित्यः दिवः।

स एतानि शुक्राणि पुनरेव अभ्यतपत्। तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः त्रीणि एव शुक्राणि उदायन्—ऋग्वेद एवाग्नेः, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्।

स एतानि शुक्राणि पुनरभ्येवातपत्। तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः त्रीणि एव शुक्राणि उदायन्— भूः इत्येव ऋग्वेदात्, भूव इति यजुर्वेदात्, स्वः इति सामवेदात्।

तद्ध वै त्रय्यै विद्यायै शुक्रम् एतावदिदं सर्वम्। स यो वै त्रयीं विद्यां विदुषो लोकः सोऽस्य लोको भवति य एवं वेद। १/३५७

यहाँ लोक, वेद और व्याहृति तीनों को ही शुक्र कहा गया है।

जैमिनि, भगवान् वेदव्यास के प्रमुख पाँच वेदाचार्य शिष्यों में एक हैं। ये सामवेद का व्यासत्व करने वाले, जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण का प्रवचन करने वाले तथा महाभारत संहिता, जो जैमिनीय महाभारत संहिता नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसका आश्वमेधिक पर्व प्राप्त एवं प्रकाशित है, के निर्माणकर्त्ता थे। पूर्व मीमांसा का एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ मीमांसा दर्शन इनका ही प्रवचन है। ये सहस्र सामगीतियों के द्रष्टा हैं।

ऐतरेय, याज्ञवल्क्य, गोपथ तथा जैमिनि परमर्षि हैं। इन चारों के एकात्म ये वचन प्रसिद्ध वेदचतुष्टय के तुल्य ही वेदान्तरों की सत्ता स्वीकार करते हैं। इन उद्धृत त्रयी सम्बन्धी वचनों के तुल्य ही सर्पवेदादि की उत्पत्ति बताने वाले वचन हैं। उनका अपलाप कैसे किया जा सकता है? तथा इन सर्पवेदादि को वेद क्यों नहीं माना जा सकता है?

इस विषय को विस्तार से लेने का कारण स्पष्ट है। इतने स्पष्ट और प्रचुर वचनों की विद्यमानता में भी भगवान् मनु के पूर्वोद्धृत (९५ ii क) 'अग्निवायुरविभ्यः' की सही व्याख्या विद्वान् नहीं कर पाये हैं। कुछ व्याख्याएँ द्रष्टव्य हैं :—

१२२ (क) भाष्यकार मेधातिथि 'अग्निभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति मानने वालों के मत में यहाँ अर्थवाद मानकर इसकी युक्तियुक्तता बताते हैं। दुदोह के द्विकर्मक होने से दूसरा कर्म स्वयं प्रजापति ही है जिसने अपने आपका ही दोहन किया। दोहन अध्यापन अर्थ में पर्यवसित हो जाता है। अपने मत में ये यहाँ पञ्चमी मानते हैं तथा कहते हैं कि अग्नि आदि से ऋगादि का क्षरण किया, उन्हें प्राप्त किया। अग्नि आदि से वर्णात्मा शब्द, मन्त्र, वाक्य तथा ब्राह्मण वाक्यों की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है क्या? इस विकल्प के उत्तर में वे कहते हैं कि अदृष्ट शक्तियों की असत्ता कौन बता सकता है। अग्नि आदि भी

ऐश्वर्य सम्पन्न देवता है और प्रजापति तो निरतिशय शक्ति वाला है ऐसी स्थिति में कोई अनुपपत्ति नहीं है। अपने इसी दर्शन के सामर्थ्य से वैयाकरण सिद्धान्तों के अनुकूल पञ्चमी विभक्ति का औचित्य भी बता दिया है। 'ऋग्वेद एव अग्नेः अजायत' आदि आगम भी उन्होंने उद्धृत किये हैं।

(ख) कुल्लूक भट्ट के अनुसार— ब्रह्म = ऋक्, यजुः तथा साम नाम के तीन वेदों को अग्नि, वायु, रवि से आकृष्ट किया जो ब्रह्म सनातन है। मनु को वेद का अपौरुषेय पक्ष ही अभिमत है। पूर्वकल्प में जो वेद थे वे ही परमात्ममूर्ति सर्वज्ञ ब्रह्मा की स्मृति में आये। उन्हें ही कल्प के आदि में अग्नि, वायु, रवि से खींच निकाला। श्रुति प्रतिपादित इस विषय पर शंका नहीं करनी चाहिए जैसा कि श्रुति का कथन है —

अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद :। दुहधातु का आकर्षण अर्थ होने से अग्नि आदि में अकथित द्वितीया न होकर पञ्चमी ही है। गौ के ऊध में स्थित दूध का दोहन उसकी प्राप्ति है वैसे ही विद्यमान वेदों का प्रकाशन है।

(ग) राघवानन्द — दुदोह का अर्थ करते हैं — आदित्य आदि के द्वारा प्रकट किया गया। यदि ऐसा अर्थ न करेंगे तो वेद के कर्त्ता अनन्त हो जावेंगे जो उचित नहीं है।

(घ) नन्दन — अग्नि का अर्थ कहते हैं — अग्नि, वायु, रवि की सृष्टि करके उनसे वेद प्रकट किये। ब्रह्म = वेदाभिमानी देवता।

(ङ, च) सर्वज्ञनारायण एवं रामचन्द्र कोई विशेष बात नहीं कहते हैं।

(छ) श्री सुरेन्द्र कुमार जी — उस परमात्मा ने (यज्ञसिद्ध्यर्थम्) (यज्ञे जगति प्राप्तव्या सिद्धिः यज्ञसिद्धिः अथवा यज्ञस्य सिद्धिः यज्ञसिद्धिः) जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए (अग्निवायुरविभ्यः तु) अग्नि, वायु और रवि से उनके माध्यम से (ऋग्यजुःसामलक्षणं त्रयं सनातनं ब्रह्म) ऋग् = ज्ञान, यजुः = कर्म, साम = उपासना रूप त्रिविधि ज्ञान वाले नित्य वेदों को (दुदोह) दुहकर प्रकट किया।

इन व्याख्याओं में वेद के वाङ्मय रूप को ही लिया गया है, तत्त्वरूप का ग्रहण किसी ने भी नहीं किया। वेद वाङ्मय है अतः ज्ञानसाधक है इससे ऊपर उठकर वेदों के सृष्टि—घटकता के रूप को समझने का विचार भी किसी ने नहीं किया।

कल्प ब्रह्मा का दिन है और रात्रि भी। इस प्रकार दो कल्प उनका अहोरात्र है। दिन सृष्टि है, रात्रि प्रलय है। हम जिस प्रकार दिन में कार्य सम्पादित कर रात्रि में विश्राम करते हैं, सोते हैं, ऐसे ही सृष्टि कल्प ब्रह्मा के दिन का व्यवहार है। कार्य को समेटकर विश्राम

की अवधि प्रलय है। क्या हम सोकर उठने के पश्चात् पूर्व दिवस की स्मृति कर कार्यारम्भ करते हैं अथवा अवशिष्ट संकल्पित कार्यों को पूरा करने में जुट जाते हैं? भगवान् ब्रह्मा रात्रि भर में वेद भूल जाते हैं क्या जो उन्हें उसी आनुपूर्वी से याद करने होते हैं? अग्नि, वायु, रवि उस स्मृति के माध्यम कैसे बनते हैं? सम्भवतः ऐसे प्रश्न इन विद्वानों के मस्तिष्क में उठे ही नहीं। यदि ये तीन वेद ब्रह्मा की स्मृति में अग्नि आदि तीनों के माध्यम से आये तो अथर्व वेद का क्या हुआ? उसका कोई माध्यम मनु ने नहीं बताया है। क्या यह मान लिया जाए कि ब्रह्मा को अथर्ववेद की स्मृति ही नहीं हुई? ब्राह्मणों के प्रदत्त उदाहरणों में अथर्व का नाम नहीं है।

मनु 'त्रयं ब्रह्म' से एक सम्पूर्ण अखिल वेद ले रहे हैं। यही तत्त्वात्मक वेद सृष्टि यज्ञ में चतूरूपात्मक तथा वैधयज्ञों में वाङ्मय रूप में भी चतूरूपात्मक हो जाता है। यहाँ एक, तीन तथा चार वेद जैसे पक्षों को अवकाश ही नहीं है। व्याख्यातृगण मनु इस स्पष्ट प्रतिपत्ति से शून्य हैं यह व्याख्याओं से प्रकट है। वेद नित्य हैं, अग्नि, वायु, रवि अनित्य हैं, इन अनित्यों से नित्य वेदों का दोहन आकर्षण तथा क्षरण कैसे हैं? इस पर भी इनका ध्यान नहीं गया।

गोपथ ब्राह्मण आज पूर्व और उत्तर भागों में क्रमशः ५+६ = कुल ११ प्रपाठकों में प्राप्त होता है। कभी यह ग्रन्थ १०० प्रपाठकों का था जैसा कि ४९ में आथर्वण परिशिष्ट– जिसका नाम आथर्वण चरणव्यूह है– में लेख है :—

१२३ **तत्र गोपथः शतप्रपाठकं ब्राह्मणमासीत्।**
तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वमुत्तरं चेति।। ४/५

गोपथ ब्राह्मण १०० प्रपाठकों वाला ब्राह्मण था। उसके केवल दो ब्राह्मण पूर्व और उत्तर अवशिष्ट रहे हैं।

यदि गोपथ ब्राह्मण पूर्ण होता तो इसमें निर्दिष्ट सर्पवेद आदि का स्वरूप किसी-न-किसी सन्दर्भ में प्राप्त होने की सम्भावना थी किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि इस विषय को यह कहकर छोड़ ही दिया जावे। वाङ्मय में उपलब्ध सूत्रों से इनके स्वरूप को जानने का यत्न किया जा रहा है।

सर्प शब्द देखते, सुनते अथवा स्मृति में आते ही सामान्यतया हमारा ध्यान रेंगने वाले प्राणी विशेष की ओर जाता है फलतः इसके अन्य अर्थों को देखने का प्रयास भी नहीं करते हैं। आज से ५०-६० वर्ष पूर्व तक यह लोक प्रसिद्ध उक्ति प्रचलित रही है—

१२४ **'विदुषां भूपतीनां च कोषः सर्वोत्तमं बलम्'।**

'विद्वानों का तथा राजाओं का सर्वोत्तम बल कोष है।' यह उक्ति गुरुओं की वाणी पर रहती थी तथा विनेयों से वे इसका पालन भी करवाते थे। आज इन अच्छी परिपाटियों का लोप होता जा रहा है कुछ का तो पूर्णतः लोप हो ही गया है।

संस्कृत के किसी भी अनेकार्थक कोष में अथवा किसी कोष के अनेकार्थ प्रकरण में सर्प का अर्थान्तर भी नहीं है। आज का अनुसन्धाता कोष स्मरणाभाव में अथवा कोषों में इसके अर्थान्तराभाव में गति-विकल है।

वेद की भाषा भी संस्कृत है तथा लोकव्यवहार की भाषा भी संस्कृत ही है, इस दृष्टि से दोनों भाषाएँ एक ही हैं तथा उनके अर्थ भी प्रायः समान ही हैं इस सत्य को प्राचीन मनीषियों ने एक मत से माना भी है, जैसे :—

१२५ (क) **प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्**।। पूर्व मीमांसा १.३.३०

यागादि कर्म प्रयोगगत प्रेरक अथवा विधायक वाक्यों में उपलब्धि से अर्थ की समानता है दोनों में भेद न होने से, यह महर्षि जैमिनि का कथन है, इसके भाष्य में शबर स्वामी ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि :—

(ख) **य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थाः।**

जो लौकिक शब्द है वे ही वैदिक हैं तथा वे ही (लौकिक अर्थ ही) उन वैदिकों के अर्थ हैं।

इन दोनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन भगवान् पाणिनि ने एक ही रूप में किया है जो महर्षि पतञ्जलि के पस्पशा भाष्य के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है :—

(ग) **केषां शब्दानाम् (अनुशासनम्)? लौकिकानां वैदिकानां च।**

किन शब्दों का अनुशासन है? लौकिकों और वैदिकों का।

ऐसी स्थिति में सर्प का लोक विदित अर्थ लेना दोष नहीं है तथापि सन्दर्भ प्रकरण आदि के आधार पर होने वाले अर्थ-भेद का ज्ञान अनिवार्य है। ऐतरेय ब्राह्मण का निम्नलिखित वक्तव्य द्रष्टव्य है :—

१२६ (क) **पाञ्चजन्यं वा एतदुक्थं यद् वैश्वदेवं सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां चैतेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं सर्व एनं पञ्चजना विदुः।** ३/१३/७

यह जो वैश्वदेव नाम का उक्थ शस्त्र है, पाञ्चजन्य है क्योंकि पाँच प्रकार के लोगों से सम्बन्धी उक्थ है, अग्नि, इन्द्र आदि देवों (के एक वर्ग) का, ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों में विभक्त मनुष्यों (के एक द्वितीय वर्ग) का, गन्धर्व अप्सराओं (के तृतीय वर्ग) का,

सर्पों (के चतुर्थ वर्ग) का, तथा पितरों (के पञ्चम वर्ग) का, इस प्रकार इन पाँच जनों का यह उक्थ है, ये सभी पाँचों जन इसे जानते हैं अर्थात् इन पाँचों वर्गों के सभी लोगों में इस शस्त्र के कर्त्ता होता की कीर्ति फैलती है।

ऐतरेय ब्राह्मण के सायणीय भाष्य के अनुसार यह अर्थ है। प्रत्न परम्परा के अनुसार वैदिकवाङ्मय का विलोडन करने वाले सायणाचार्य देवों, गन्धर्वाप्सराओं, सर्पों तथा पितरों को मनुष्यों के वर्ग में **'मनुष्याः'** के साथ गिनते हैं। वे लिखते हैं—

(ख)**'एतेषां पञ्चविधानां जनानां तुष्टिहेतुत्वात् तदीयमेतत् शस्त्रम्।**

इन पाँचों प्रकार के लोगों की तुष्टि का हेतु होने से यह शस्त्र उनके नाम से पाञ्चजन्य है।

देवमनुष्यों से पितर तक की पञ्चजनों के मध्य की गणना में सर्प है, निश्चित ही यह सरीसृपवर्ग का प्राणी न होकर मनुष्य ही है।

गुडाकेश अर्जुन की पत्नी उलूपी सर्पवर्ग की थी इसी भाँति ऋषि आस्तिक की जननी जरत्कारु वासुकि की भगिनी तथा ऋषि जरत्कारु की पत्नी थी। आस्तिक ने जनमेजय का सर्प-सत्र रुकवाया था। छान्दोग्योपनिषत् की सर्पदेवजन-विद्या (७.१.२), शतपथ ब्राह्मण के पारिप्लवाख्यान के पाँचवें दिन का सर्पविद्या-वेद (१३.४.३.९) क्या इन सर्पों का अपना विशेष वेद नहीं हो सकता है।

ब्राह्मण्य का वर प्राप्त कर विश्वामित्र ऋषि देवताओं तथा ब्रह्मा को कहते हैं :—

१२७ (क)**ओंकारश्च वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम्।**
क्षत्रवेदविदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि।।
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः।।

—वा. रा. बालकाण्ड ६५/२४

हे देवों! यदि मुझे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो गया है तो ओंकार, वषट्कार तथा वेद मेरा वरण करें। क्षत्रवेद के वेत्ताओं में तथा ब्रह्मवेद के वेत्ताओं में भी श्रेष्ठ ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ मुझे ऐसा अर्थात् ब्राह्मण कहे।

क्या हमारा आज का वेदाभ्यासी विद्वान् बता सकेगा कि उसने अन्यत्र भी कहीं क्षत्रवेद तथा ब्रह्मवेद का नाम देखा है? यदि नहीं देखा तो वेद के इस रूप को प्रस्तुत करने वाले भगवान् वाल्मीकि को मिथ्या विषय प्रस्तोता कह दें जो ऋगादि वेद चतुष्टय से भिन्न वेद नाम बता रहे हैं।

प्राचीन आचार्य एवं ऋषि बड़े कारुणिक होते थे जो ऐसे विषयों की लोक हित में आवृत्ति भी प्रायः कर देते थे, भगवान् वाल्मीकि ने पुनः इसे व्याख्यात्मक रूप में दोहराया है :—

(ख) **राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्यतां ततः।**
ब्रह्मवत् क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः।। अयो. काण्ड ५२/७८

गङ्गा पार करने के लिए गुह से प्रस्तुत उस नाव पर चढ़कर महातेजस्वी राम ने अपने हितकर ब्रह्मयुक्त तथा क्षत्रयुक्त मन्त्रग्राम विशिष्ट — ब्रह्मवेद तथा क्षत्रवेद का जाप किया।

यह ध्यान और स्मृति में रखने योग्य विषय है कि भगवान् वाल्मीकि २४ वें परिवर्त के वेदव्यास थे इनका नाम ऋक्ष था। इनके पश्चात् व्यासत्व क्रमशः शक्ति, पराशर, जातूकर्ण्य तथा कृष्णद्वैपायन का था। अपने समय में त्रिलोकी में वेद, यज्ञ आदि का प्रचार-प्रसार शिष्य प्रशिष्य परम्परा द्वारा करने वाले भार्गवशिरोमणि वाल्मीकि वेद के इन सभी अनेक रूपों के ज्ञाता तथा उपदेष्टा थे। विष्णुपुराण में यह व्यासक्रम स्पष्ट है :—

१२८ **ऋक्षोऽभूद् भार्गवस्तस्माद् वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।**
तस्मादस्मत्पिता शक्तिः व्यासस्तस्मादहं मुने।। ३/३/१८
जातूकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः।। १९

विष्णुपुराण के प्रवक्ता पराशर तथा श्रोता मैत्रेय हैं। पराशर कहते हैं मुने! तृणबिन्दु के पश्चात् भार्गव ऋक्ष व्यास हुए जो वाल्मीकि कहे जाते हैं। इनके पश्चात् हमारे (पराशर के) पिता शक्ति व्यास हुए, उनके पश्चात् मैं पराशर व्यास बना। मेरे पश्चात् जातूकर्ण्य व्यास थे उनके पश्चात् (मेरा पुत्र) कृष्णद्वैपायन व्यास रहे। इस प्रकार ये २८ वेदव्यास पुराण विस्तारक रहे हैं। वाल्मीकि आप्ततम हैं, इनकी सूचनाओं को सावधानी से लेकर व्याख्या पुरस्सर प्रस्तुत किया जाता तो समाज के समक्ष अनेक नवीन तथ्य आते।

इन ब्रह्मवेद क्षत्रवेद की भाँति ही एक 'देववेद' भी है। जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है :—

१२९ (क) **तस्मै होचुरासीदेवेदमश्वशीर्षं येनाश्विभ्यां देववेदं प्राब्रवीत्।** ३/६४

उसे वे बोले—यह अश्वशीर्ष ही था जिसने अश्विनी कुमारों को 'देववेद' का प्रवचन किया।

महाभारत शान्तिपर्व में हयशीर्ष द्वारा वेदोद्धार बताया गया है। वहाँ हयशीर्ष को वेदालय कहा गया है :—

(ख) **कृत्वा हयशिरः शुभ्रं वेदानामालयं प्रभुः।** ३४७/४८
एतास्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः। ५७
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः।
प्रादाच्च ब्रह्मणे भूयस्ततः स्वां प्रकृतिं गतः।। ५८
स्थापयित्वा हयः शिर उदक्पूर्वे महोदधौ।
वेदानामालयं चापि बभूवाश्वशिरास्ततः।। ५९

प्रभु ने वेदों का आलयभूत अश्वशिर धारण कर वेदोद्धार का यत्न किया। ४८। हे राजन् जनमेजय! इसी बीच देव विष्णु अश्वशिरधारी हुए तथा रसातलगत निखिल वेदों का उद्धार किया तथा पुनः उन्हें ब्रह्मा को दिया और स्वयं अपने प्राकृत रूप में आ गये। ५८। उत्तरपूर्व महासागर में हयः शिर तथा वेदों के आलय की स्थापना कर अश्वशिरा हरि कार्य कर चुके। ५९।

शतपथ ब्राह्मण के १२वें काण्ड के प्रथम अध्याय के तीसरे ब्राह्मण का नाम 'देवविद्या' ब्राह्मण है। इसमें कुल २३ कण्डिकाएँ हैं। यहाँ दीक्षा प्रायणीय, क्रय, आतिथ्य, प्रवर्ग्य आदि से प्रारम्भ कर उदयनीय अतिरात्र तक २२ कर्म गिनाते हुए इनमें क्रमशः अग्नाविष्णू, अदिति, विष्णु, आदित्य, उपसत्स्थदेव आदि का क्रम लेते हुए संवत्सर देवान्त तक विभिन्न देवों का यजन, उनकी प्राप्ति, उनका सायुज्य तथा उनकी सलोकता का फल बताया गया है। यह देवविद्या ब्राह्मण है। श्रीमद् आद्यशंकराचार्य देवविद्या का निरुक्त अर्थ लेकर कितनी यथार्थ व्याख्या दे पाये हैं, यह इस ब्राह्मण के प्रकाश में सुधीजन विचारे तथा इसी भाँति उनके छान्दोग्योपनिषत् भाष्य की अन्य विद्याओं पर भी विचार करें।

इन विद्याओं की भाँति ही 'सर्पवेद' है। पूर्वोद्धृत पारिप्लवाख्यान ब्राह्मण में सर्पविद्या वेदोपदेश के प्रसंग में बताया गया है कि सर्प काद्रवेय अर्बुद की प्रजा हैं। इन्हें सर्पविद्या वेद का एक पर्व सुनाया जाता है। इस वेद में मन्त्र विभाजन पर्वों में होता है जैसे अथर्वांगिरस वेदों में होता है।

यह अर्बुद काद्रवेय केवल सर्पराज ही नहीं है अपितु साक्षात्कृतधर्मा ऋषि भी है। ऋग्वेद (शौनकशाखा) के दशम मण्डल का ९४ वाँ सूक्त इसी का है, इसमें १४ मन्त्र हैं।

भगवत्कात्यायन प्रोक्त सर्वानुक्रमणी में निम्नलिखित वचन है :—

१३० (क) **प्रैते षडूना सर्पोऽर्बुदः काद्रवेयो ग्राव्णोऽस्तौत् पञ्चम्यन्ते त्रिष्टुभौ सप्तमी च।** ६०।

छः न्यून सौ अर्थात् ९४ संख्या वाले 'प्रैते वदन्तु' सूक्त का ऋषि अर्बुद काद्रवेय सर्प है जिसने ग्राव-स्तुति की है। पाँचवीं, सातवीं तथा अन्तिम (१४वीं) ऋचाओं में त्रिष्टुप् छन्द है।

जैमिनीय ब्राह्मण इन ऋचाओं का महत्त्व कहता है :—

(ख) **अर्बुदो वै सर्प एताभिः (ऋग्भिः) मृतां त्वचमपाहत।** २/२२२

जैमिनि ऐतरेय के प्रवचन को परिणाम रूप में प्रस्तुत करते हैं। वहाँ ऐतरेय में यह विषय विस्तरशः है। उसका कुछ भाग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :—

देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः, ते ह पाप्मानं नापंजघ्निरे, तान् ह उवाच अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ऋषिः मन्त्रकृत् — एका वै वो होत्राऽकृता तां वोऽहं करवाणि अथ पाप्मानमपहनिष्यध्व इति, ते ह तथा इत्यूचुः, तेषां ह स्म मध्यन्दिने मध्यन्दिने एव उपोदासर्पत् ग्राव्णोऽभिष्टौति इति। ऐते ब्रा. २६/१

सर्वचरु नाम के स्थानविशेष पर देवताओं ने सत्र दीक्षा ली (पापनिरसन संकल्प से प्रवृत्त वे याग समाप्ति पर भी) अपने पाप से मुक्ति नहीं पा सके। मन्त्रकृत् ऋषि अर्बुद काद्रवेय सर्प उनको बोला— आपके होता ने अवश्यमेव एक प्रक्रिया नहीं की, आप लोगों के लिये मैं उसे सम्पादित कर दूँ। ऐसा होने पर आप अपने पाप को नष्ट कर सकेंगे। देवों ने कहा— ठीक है। वह प्रत्येक मध्यन्दिन सवन पर उनके पास आता है तथा ग्राव-स्तुति करता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण भी अर्बुद के सामगान को बता रहा है :—

सर्पराज्या ऋग्भिः स्तुवन्ति। अर्बुदः सर्प एताभिर्मृतां त्वचमपाहत मृतामेवैताभिस्त्वचमपघ्नते। ता. ब्रा. ९.८.७-८

सर्पराज वाली 'आयं गौः' आदि तीन ऋचाओं से स्तुति करते हैं। सर्प अर्बुद ने उन ऋचाओं से मृतत्वचा को दूर किया था, वस्तुतः इनसे लोग मृतत्वचा को नष्ट करते हैं जो ऐसा जानते हैं एवं करते हैं।

अर्बुद की जननी दक्ष प्रजापति की कन्या कद्रू है। पिता प्रजापति कश्यप है। कद्रू की ही भगिनियाँ दिति, अदिति, दनु, मनु आदि हैं, फलतः दैत्य, आदित्य, दानव, मानव, हरि आदि सब भाई हैं। इनमें युद्ध दाय निमित्तक तथा वर्चस्व स्थापन हेतु होते रहे हैं, जैसे आज होते हैं।

अर्बुद जननी कद्रू स्वयं भी ऋषि है, अपने द्वारा देखे गये सूक्त की यही देवता भी है। ऋग्वेद १०/१८९ इसका सूक्त है। इसमें कुल तीन मन्त्र हैं। ऋषि दयानन्द ने

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इनको भूभ्रमण प्रतिपादन में प्रमाणत्वेन उद्धृत किया है। सर्वानुक्रमणी में ऋषि तथा देवता विषयक कथन है :—

(ग)**आयं गौ सार्पराज्ञी आत्मदैवतं सौर्यं वा।** ६४

'आयं गौः' यह सूक्त सार्पराज्ञी ऋषिका का आत्मदेवता रूप सूर्यदेवतात्मक है।

इस सूक्त का पाठ यजुर्वेद माध्य. सं. ३/६-७ में तथा इसी क्रम से काण्वसंहिता में है। अथर्ववेद में ६/३१ सूक्त में तथा २०/४८/४-६ में दो स्थान पर आवृत्त है। इससे सार्पराज्ञी का महत्त्व स्वतः सिद्ध होता है।

ऋचाओं पर सामविशेष का गान करने अर्थात् उन्हें गान विशेष देने वाले, गीतियों के द्रष्टा ऋषि सामऋषि हैं। स्वभावतः ये ऋचाओं के ऋषियों से भिन्न हैं।

आरण्यक गान में अर्कपर्व के पञ्चम खण्ड में सर्पसामों के ऋषि बताये गये हैं। इसमें चर्षणीधृत (३७४, ऋग्वेद ३.५.१.१) के विषय में 'सामवेदार्षेयदीप' का कथन है :—

१३१ **चर्षणीधृतम् (३७४) इत्यृचः विश्वामित्र ऋषिः, जगती छन्दः, इन्द्रो देवता। तत्र संसर्पाणि सर्पसामानि वा त्रीणि सामानि। अभाइ—अभिप्र—खचर्षणीति त्रीणि संसर्पाणि सर्पसामानि। तेषां सर्पा ऋषयः, अग्निपृथिवीवायवो वा ऋषयः। ऋग्वच्छन्दोदेवते।**

ऋग्वेदीय (३.५१.१) यह ऋचा सामवेद कौथुमी संहिता के ऐन्द्र काण्ड के चतुर्थ अध्याय में २७वें खण्ड में पठित है जहाँ इसका क्रम ३७४ वाँ है। ऋग्वेद में इसके ऋषि विश्वामित्र गाथिन, छन्द जगती तथा देवता इन्द्र हैं। वे ही इस साम संहिता में भी हैं। गान करने वाले ऋषि सर्प हैं, संसर्प = गति विशेष के कारण एवं सर्पों के ऋषित्व के कारण इन गीतियों को संसर्प सर्पसाम कहा गया है। इस मन्त्र पर तीन साम हैं जिन्हें अभाइ, अभिप्र तथा खचर्षणी नाम से बताया गया है। सर्पों के ऋषित्व के साथ अग्नि, पृथिवी, वायु का विकल्प प्रस्तुत करना ऐतिह्य महत्त्व रखता है। सर्पों की भाँति इनका भी ऋषित्व रहा हो अथवा ये उन सर्प ऋषियों के प्रातिस्विक नाम हों। कद्रू को पृथिवी कहना इस अनुमान का पोषक है।

इस ऋचा के अतिरिक्त चार ऋचाएँ इस खण्ड में और हैं जिन पर कुल सात साम हैं।

अर्क पर्व के ही सातवें खण्ड में जो पर्व का अन्तिम खण्ड है, **कयानश्चित्र आ भुवत्** (साम सं. १५९, ऋक् ४.३१.१ तथा यजु. ३७/३९) पर ही वीहा (यवाइ) कयान, एक सर्प साम है जिसे कल्माष भी कहा गया है। इसके ऋषि भी सर्प हैं।

आरण्यक गान के शुक्रिय पर्व के तीसरे खण्ड में 'आयं गौ' आदि तीन ऋचाओं (६३०, ३१.३२) का सूक्त सर्प राजाओं का है जिसे स्त्रीत्व विशेषण की अपेक्षा से सार्पराज्ञी भी कहा गया है। प्रत्येक पर एक-एक साम है जिनके 'सर्पराजानः' ऋषि हैं अथवा एक सर्प ऋषि है अथवा अर्बुद नाम का सर्प ऋषि है।

संगीत सम्बद्ध भारतीय वाङ्मय में कम्बल और अश्वतर अति प्रसिद्ध संगीताचार्य नाग हैं। ये कश्यप वंशीय हैं। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार दोनों भाई हैं तथा इनकी जोड़ी प्रसिद्ध है। इन दोनों को महाभारत में अति प्रमुख नागों के रूप में बताया गया है। आदि-पर्व महर्षि कश्यप से इनकी उत्पत्ति बताता है :—

१३२ **कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा।**
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति स्मृतौ।। ३५/१०

कम्बल, अश्वतर, कालीय, वृत्त, संवर्त तथा पद्म नाम के दो नाग।

सभा पर्व इन दोनों को वरुण की सभा का सदस्य बताता है :—

कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ।
पाणिमान् कुण्डधारश्च कर्कोटकधनञ्जयौ।। ९/९
एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर!।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः।। ९/११

वरुण सभा का वर्णन करते हुए नारद युधिष्ठिर को कहते हैं कि—पूर्णतया क्लमवर्जित सदैव तरोताजा कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, पाणिमान्, कुण्डधार, कर्कोटक तथा धनंजय (९) ये तथा ऐसे अनेक सर्प उन सभा में महात्मा वरुण की उपासना करते हैं।

वनपर्व में प्रजापति ब्रह्मा की वेदि का संघटन करने वाले स्थानों में प्रयाग, प्रतिष्ठान, कम्बल—अश्वतर के स्थानों, गङ्गा-यमुना सङ्गम स्थली तथा भोगवती (नागों की नगरी) को गिना गया है।

१३३ **प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा।।** ९५/७६
यमुना गङ्गया सार्धं सङ्गता लोकपावनी।
तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर।। ७७।।

प्रजापति की इस वेदि में वेद और यज्ञ साक्षात् रूप में अवस्थित हैं।

भोगवती का वर्णन करते हुए नारद इन्द्र के सारथि मातलि को नागों की महत्ता तथा श्रेष्ठता बताते हुए कम्बल और अश्वतर को भी गिनते हैं। मातलि पुत्री के लिए वर की खोज में है तथा अन्त में नाग से ही सम्बन्ध स्थिर होता है।

१३४ **नागानामेकवंशानां यथाश्रेष्ठं तु मे शृणु।** १०३/८
वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ।
कालीयो नहुषश्चैव कम्बलाश्वतरावुभौ।। ९।।
एते चान्ये च बहवः कश्यपस्यात्मजाः स्मृताः। —उद्योगपर्व

एकवंशीय, कश्यप पुत्र नागों की श्रैष्ठ्यक्रम से गणना में कम्बल, अश्वतर सैकड़ों में सातवें, आठवें हैं। यह इनकी श्रेष्ठता का प्रमाण है।

मार्कण्डेय पुराण में महासती मदालसा का अत्युन्नत विस्तृत चरित है। वहाँ बताया गया है कि अपने दो पुत्रों के अन्तरंग मित्र कुवलयाश्व नामान्तर वाले महाराज ऋतध्वज की दिवंगता पत्नी मदालसा को पुनः उसी रूप में पुत्रवयस्य को देने का गोपनीय उदात्त लक्ष्य पूरा करने के लिए अश्वतर अपने अग्रज कम्बल के साथ भगवती सरस्वती की उपासना कर उनसे संगीत का समग्र ज्ञान वर रूप में प्राप्त करता है। तदनन्तर संगीत से भगवान् शिव की आराधना कर मदालसा को पुत्री रूप में प्राप्त करने का वर प्राप्त कर लेता है।

पिण्डपितृयज्ञ की विधि से मध्यम पिण्ड खाकर वह मदालसा का जनक होता है :—

१३५ **तथा च कृतवान् श्राद्धं स नागः कम्बलानुजः।**
पिण्डं च मध्यमं तद्वद् यथावदुपभुक्तवान्।। २१/७२

कम्बल के अनुज उस नाग अश्वतर ने तदनुरूप श्राद्ध किया तथा विधिपूर्वक मध्यम पिण्ड का स्वयं ने उपभोग किया।

पुत्रों के माध्यम से ऋतध्वज को घर पर बुलाता है तथा खूब स्वागत–सत्कार करता है। जाते समय वर का आग्रह करने पर तथा ऋतध्वज के उनके प्रसाद–अनुग्रह से भिन्न कुछ भी न चाहने पर अतर्कितरूप से उसे 'मदालसा' की भेंट देता है।

अश्वतर के महापुरुषत्व का यह एक ही निदर्शन पर्याप्त है।

इन सर्पों से सम्बद्ध गोपथब्राह्मण का 'सर्पवेद' ही शतपथ का सर्पविद्यावेद छान्दोग्योपनिषत् का सर्प देवजन विद्या है। आचार्य शंकर इसका अर्थ 'सर्पविद्यां गारुडम्' करते हैं जो इस सम्पूर्ण प्रसंग को देखने पर उचित नहीं लगता है। साम विधान ब्राह्मण के निम्नलिखित उद्धरण को भी इस प्रसंग में देखा जावे :—

१३६ **शङ्खपुष्पीं सर्पसुगन्धां चोत्थाप्य तदहस्त्रिवृतं कारयेन् मणिं प्रतिष्ठाप्यावृता हुत्वा मणिं निधाय 'चर्षणीधृतम्' (आ. गा. २.५.३३.१-३) इति वर्गेणाभिजुहूयात् सहस्रकृत्वः शतावरम्। तं मणिं कण्ठेन शिरसा वा धारयतो न सर्पभयं भवति। कयानायां च सर्पसाम (आ. गा. २.७.५६.१) सदा प्रयुञ्जीत। स्वस्तिहास्य भवति।** २/३

शंखपुष्पी तथा सर्पगन्धा लेकर पीसकर त्रिवृत् (तिहरी, तीन धागों से गुँथी) मणि बनाकर अग्नि प्रतिष्ठापित करते हुए हवन कर मणि को सिर पर अथवा कण्ठ में धारण करे। चर्षणीधृत सामवर्ग से हवन करे, सहस्र आहुतियों से अन्यथा कम-से-कम १०० आहुतियाँ तो दे ही, ऐसे व्यक्ति को सर्पभय नहीं होगा। 'सदैव कयानः' ऋचा पर सर्पसाम गान करें, निश्चित ही मंगल होगा।

गारुड विद्या में गरुड की प्रधानता होती है, गरुड का सर्पों से नित्य वैर है, फलतः सर्प अथवा सर्पविष के नाशक प्रयोग उसमें हैं। इसमें सर्पोपासना जैसा रूप है, सर्पसाम के प्रयोग से। रथन्तर वामदेव्य आदि की भाँति ही सर्पसाम हैं जो विशुद्ध वैदिककृत्य है।

सर्पवेद के स्वरूप की जिज्ञासा में यह सामान्य एकपदी (पगदण्डी) है। विद्वान् अनुसन्धान करें तो सतत साधना निराश नहीं होने देगी।

पुराणों में इन सर्पों को सूर्यरथ का वहन करने वाले रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। सूर्य में ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, निशाचर (राक्षस) पन्नग, यक्षों के साथ धाता आदि एक-एक सूर्य रूप तो हैं ही बालखिल्य भी इन्हें घेरे रहते हैं। प्रत्येक मास में सप्तगण के व्यक्ति बदलते रहते हैं। नागों में १ वासुकि, २ संकीर्ण अथवा कच्छनीर, ३ तक्षक, ४ बुध ५ एलापत्र, ६ आपूरण, ७ धनञ्जय, ८ ऐरावत, ९ महापद्म, १० कर्कोटक, ११ कम्बल तथा १२ अश्वतर हैं इनकी प्रमुखता में नाग सूर्यरथ वहन करते हैं। यही चैत्रादि १२ मासों का क्रम है। देव, ऋषि आदि की मासिक गणना के पश्चात् उपसंहार रूप में विष्णुपुराण का कथन है :—

१३७ **स्तुवन्ति मुनयः सूर्यं गन्धर्वैर्गीयते पुरः।**
नृत्यन्त्योऽप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचराः॥ २/१०/१९
वहन्ति पन्नगा यक्षैः क्रियतेऽभीषुसंग्रहः।
बालखिल्यास्तथैवेनं परिवार्य समासते॥ २०॥
सोऽयं सप्तगणः सूर्यमण्डले मुनिसत्तम!।
हिमोष्णवारिवृष्टीनां हेतुत्वे समयं गतः॥ २१॥

वेदव्यास पराशर मुनि मैत्रेय को कहते हैं कि—मुनि सूर्य की स्तुति करते हैं, गन्धर्व आगे-आगे गान करते हैं, अप्सराएँ नाचती हुई चलती हैं, राक्षस पीछे-पीछे चलते हैं,

नाग रथवहन करते हैं, यक्ष सूर्याश्वों की लगाम नियन्त्रित रखते हैं, बालखिल्य इनको चारों ओर घेरे रहते हैं, हे मुनिवर्य! सूर्यमण्डल में इस रूप में स्थित यह सप्तगण शीत, ग्रीष्म तथा वारि (जल) की वृष्टि में हेतुरूप से समय अर्थात् संविदा को प्राप्त है।

वायुपुराण-(खेम. मुं.)पूर्वार्ध अध्याय ५१ में १-३५ पद्यों में, मत्स्यपुराण (गी.प्रे.गो.) अध्याय १२६ वें में, कूर्मपुराण पूर्वार्ध ४० वें अध्याय में, श्रीमद्भागवत महापुराण १२वें स्कन्ध के ११ अध्याय के ३२ से ४५ तक पद्यों में प्रायः स्वल्प पाठभेद से यह विषय वर्णित है। दुःख है कि पुराण भक्त सभी ग्रन्थों के पाठ को आधार बनाकर इस अतिशय सुन्दर वैज्ञानिक विषय को शुद्ध नहीं कर सके हैं जो पुराण को 'वेदानां वेदम्' सिद्ध करता है। क्या ऐसे स्थलों पर मीमांसा का अर्थवाद रत्ती भर भी लाभ दे सकेगा?

यह विषय वेद की व्याख्या है, वेद विज्ञान है।

वेद में अनेकत्र सर्प विषयक ऐसे उल्लेख मिलते हैं :—

१३८ **नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।**
येऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः।। यजु. १३/६
या इषवो यातुधानानां येवावनस्पतीं अनु।
ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः।।७।।
ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः।।८।।

अन्यत्र भी काण्वसंहिता १४/६-८ में यथावत्, मैत्रायणी संहिता २/७/१५/२०१-३ में तथा काठक संहिता १६/१८६-८८ में पाठान्तर से—जो अतीव स्वल्प रूप में हैं, पठित हैं, इन मन्त्रों में सर्पों की अवस्थिति पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, यातुधानों के इषुसमूह, वनस्पति, अवट, द्युलोक के रोचन सूर्य के रश्मिजाल तथा आपः में सर्वव्याप्तिरूप से बताई गई है तथा इन्हें नमन किया गया है। निश्चय ही ये पृथ्वी पर रेंगकर चलने वाले हमारे सुपरिचित सर्प नहीं है।

मैत्रायणी संहिता में तथा कपिष्ठल कठ संहिता में सर्प की त्विषि का स्वयं में ब्रह्मवर्चस आदि की भाँति अवरोध का उल्लेख है :—

१३९ (क) **सोमे वा एका त्विषिः, व्याघ्र एका,**
सर्प एका ता एवावरुन्धे। —मै.सं. ३/२/६/८

एक त्विषि सोम में है उससे विलक्षण एक त्विषि व्याघ्र में है, एक विलक्षण त्विषि सर्प में है, मैं उन्हें अपने में सञ्चित करता हूँ।

(ख) **सर्वा ह्येतास्त्विषीरवारुद्ध याग्नौ ना सर्पे या सूर्ये।**

—कपि.क.स. ३१.७

मैं इन सभी त्विषियों को अपने में अवरुद्ध कर चुका जो अग्नि में, सर्प में तथा सूर्य में है।

यही कारण है कि सूर्य रश्मियों को सर्प्या कहा गया है :—

(ग) **सर्प्या वा आदित्याः।** —ताण्ड्य ब्रा. २५/१५/४

उपलक्षण रूप में सर्पवेद के स्वरूप की यह सभी सामग्री प्रस्तुत की गई है।

यहाँ यह बताना अनुपयुक्त नहीं होगा कि सप्तगण विषयक पुराण-प्रवचन वेद मूलक ही है। यजुः (माध्य.) संहिता के १५वें अध्याय में १५ से १९ तक के मन्त्र इस विषय को प्रस्तुत करते हैं। इसी तरह १७वें का ५८वाँ मन्त्र तथा १८वें के ३८ से ४३वें तक के मन्त्र जो विवाह में राष्ट्रभृद् होम में विनियुक्त हैं गन्धर्व और अप्सराओं के स्वरूप को बताते हुए व्याख्या का संकेत भी देते हैं। वस्तुतः यह विषय पुराणों द्वारा वेद की वैज्ञानिक व्याख्या के सन्दर्भ में विस्तार से विचारणीय होने से वहीं प्रस्तुत किया जायेगा।

पिशाचवेद

अब प्रसंगोपात्त पिशाच वेद पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत है :—

लोक व्यवहृत संस्कृत के उपलब्ध प्रथम कोष अमरसिंह कृत 'नामलिङ्गानुशासनम्' में पिशाच को देवयोनि कहा गया है। पिशाच विषयक प्रसिद्ध धारणा उसे भूत-प्रेतों के तुल्य मानते हुए हानिकारक प्राणि-विशेष मानने की है जो अमर के निम्नलिखित वाक्य के प्रतिकूल है —

१४० (क) **विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।**
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।। १.१.११।।

यहाँ विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत इन दस को देवयोनि कहा गया है।

प्रसिद्धि है कि अमरसिंह बौद्ध था अतः उसका कथन अनार्ष कोटि में आता है, फलस्वरूप यह प्रमाण नहीं है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता है। वायु पुराण भी यही कहता है :—

(ख) **सुपर्णयक्षगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः।**
अष्टौ ते पितृभिः सार्धं नासत्या देवयोनयः।। ३१.१२।।

१ सुपर्ण, २ यक्ष, ३ गन्धर्व, ४ पिशाच, ५ उरग (नाग, सर्प), ६ राक्षस, ७ पितृगण तथा ८ नासत्य (अश्विनी कुमार युगल) ये आठ देवयोनि हैं।

यही पुराण इन्हें साधकों के प्राप्य स्थानविशेष बताता है :—

१४१ (क) **वर्णाश्रमाचारयुक्ताः शिष्टाः शास्त्राविरोधिनः।**
वर्णाश्रमाणां धर्मोऽयं देवस्थानेषु कारणम्।।

—उत्तरार्ध ४०/९६

वर्ण और आश्रम के आचरण में युक्त शास्त्रों का विरोध न करने वाले शिष्ट हैं। वर्णाश्रमों का धर्म देवस्थानों में कारण होता है।

वे स्थान यहाँ बिना गणना के निर्दिष्ट किये गये हैं :—

(ख) **ब्रह्मादीनि पिशाचान्तान्यष्टौ स्थानानि देवताः।**
ऐश्वर्यमणिमाद्यं हि कारणं ह्यष्टलक्षणम्।। ९७।।

ब्रह्मा से पिशाच तक आठ देवस्थान हैं। अष्टलक्षण अणिमादि ऐश्वर्य के कारण हैं।

इसी पुराण के पूर्वार्ध के १२वें अध्याय में पैशाच, राक्षस, गान्धर्व, कौबेर, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजापत्य तथा ब्राह्म रूप में ये स्थान-नाम गिनाये गये हैं। (३७-३९)

इसे पौराणिक कल्पना कहकर टालना भी सम्भव नहीं है, महाभारत अनुशासन पर्व में भगवान् शिव के उपासकों में भी इनका निर्देश है :—

१४२ **ब्रह्मादयः पिशाचान्ता यं हि देवा उपासते।** १४/४।।

ब्रह्मा से पिशाच तक (सभी) देव जिन शिव की उपासना करते हैं।

इनका आधार स्वयं वेद है :—

१४३ **यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।**
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय।। अथर्व ४/२०/९

अन्तरिक्ष से जो गमन करता है, जो द्युलोक का अतिसर्पण करता है, भूमि को जो नाथ मानता है मुझे उस पिशाच को दृष्टिगत कराओ।

पिशाच के इस सर्वत्र व्यापक प्रभाव से उसके अन्य भी कई विशिष्ट गुण दृष्टिगत होते हैं। महाभारत के खिल हरिवंशपुराण के भविष्य पर्व में पिशाचों को विराट् प्रभु की पादांगुलि कहा गया है।

अपने द्वारा याचित एवं बलि से प्रतिश्रुत तीन पद भूमिदान का संकल्पजल हाथ से गिरते ही वामन अवामन होकर अपना सर्वदेवमय रूप प्रकट करते हैं :—

१४४ **भूः पादौ द्यौः शिरश्चास्य चन्द्रादित्यौ च चक्षुषी।**
पादाङ्गुल्यः पिशाचाश्च हस्ताङ्गुल्यश्च गुह्यकाः। ७१.४४–५५
तस्य देवमयं रूपं दृष्ट्वा विष्णोर्महासुराः।
अभ्यसर्पन्त सङ्क्रुद्धाः पतङ्गा इव पावकम्।। ५६।।

भूमि उनका पदद्वय थी, द्यौ शिर था, चन्द्रसूर्य चक्षु थे, पिशाच पादाङ्गुलि तथा गुह्यक हस्तांगुलि थे। उन विष्णु के देवमयरूप को देखकर क्रोध में भरे महासुर पावक (अग्नि) की ओर पतिङ्गों की भाँति उन पर टूट पड़े।

देवमय रूप का यह वर्णन ४४ से ५५ तक पद्यों में है, उद्धृत पद्य प्रथम है जिसमें भूमि, द्यौ, सूर्यचन्द्र के साथ पिशाचों को गिना गया है। इससे उनके स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है कि वे हम जैसे मानव रूप नहीं हैं।

पिशाच राजस सत्त्वविशिष्ट प्रकृति का रूप है। मनुष्यों में भी प्रमुखतया इस वृत्ति के रूप होते हैं जो पिशाच का दूसरा अर्थ है। भगवान् कृष्णात्रेय पुनर्वसु ने १ असुर, राक्षस, ३ पैशाच, ४ सार्प, ५ प्रेत तथा ६ शाकुन रूप में राजस वृत्ति के प्राणियों की गणना की है। इनमें ऐसे मनुष्यों के विषय में कहा गया है :—

१४५ **महालसं स्त्रैणं स्त्रीरहस्कामम् अशुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुभीषयितारं विकृतिविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात्।**

—चरक संहिता शारीरस्थान ४/५५

घोर आलसी, स्त्रीकामी, स्त्रियों के साथ एकान्त का प्रेमी, अशुचि, शुचिजनों से द्वेष रखने वाला, डरपोकों को डराने वाला, विकृति युक्त विहार और आहार का अभ्यासी पिशाचवृत्ति का व्यक्ति होता है।

अश्वशास्त्रियों ने घोड़ों में भी इन सत्त्वों की सत्ता मानी है।

स्थान विशेष के निवासियों की संज्ञा भी पिशाच है फलतः ये मनुष्य ही हैं तथा वैदिक संस्कृति के अनुयायी रहे हैं। यही कारण है कि भगवान् मनु ने आठ प्रकार के विवाहों में पैशाच विवाह को भी माना है। पिशाच जनपद के योद्धा महाभारत युद्ध में युधिष्ठिर के पक्ष में थे। भीष्म पर्व ५०/५० से ज्ञात होता है कि ये क्रौञ्चव्यूह के दाहिने पक्ष के स्थान पर स्थित थे। इधर दुर्योधन की सेना में भी भगदत्त के साथ पिशाच थे यह भी भीष्मपर्व ८७/८ का उल्लेख है। द्रोण पर्व (११.१६) से विदित होता है कि श्रीकृष्ण ने भी पिशाच देश के योद्धाओं को पराजित किया था।

शान्तिपर्व से ज्ञात होता है कि ब्रह्मजन्मा होने से मानव ब्राह्मण ही था। कालान्तर में जब इनमें से जो लोग ब्रह्म अर्थात् वेद को छोड़ते गये, वैदिक संस्कारों से हीन होते गये

तो अद्विज होकर अन्त में पिशाच, राक्षस, प्रेत जैसी विभिन्न जातियों का रूप लेते चले गये।

१४६ **न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।**
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।। १८८/१०
ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः।। १७।।
पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः स्च्छन्दाचारचेष्टिताः।। १८।।

भगवान् भृगु भरद्वाज को कह रहे हैं कि वर्ण मानवों के भेदक नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मा के द्वारा उत्पादित होने से ब्राह्म है जो कालान्तर से वर्णभाव को प्राप्त हुआ है। जिनकी भिन्न-भिन्न स्थानों पर नाना प्रकार की जातियाँ हुईं। जो ज्ञान-विज्ञान से सर्वथा शून्य, स्वच्छन्द आचार और चेष्टाओं वाली पिशाच, राक्षस और प्रेत आदि विविध म्लेच्छ जातियों में प्रसिद्ध हुईं।

म्लेच्छत्व प्रथम भाषा में तदनन्तर सम्पूर्ण सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त हो जाता है। भगवान् पाणिनि ने 'पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ' (५.३.११७) सूत्र में पर्श्वादिगण में अन्य जातियों के साथ असुर, रक्षस् तथा पिशाच शब्द पढ़े हैं।

१४७ डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पाणिनि कालीन भारत वर्ष' में पिशाच के लिये लिखा है :—

यद्यपि कच्चा माँस खाने वालों के लिये यह सामान्य शब्द था, पर ग्रियर्सन ने सिद्ध किया है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में दरदिस्तान, चितराल के लोगों का व्यापक नाम पिशाच था क्योंकि उनमें कच्चा माँस खाने का किसी समय बहुत रिवाज था। हर्नली ने काफिरिस्तान के दक्षिण आधुनिक लमगान (प्राचीन लम्पाक) के पड़ौसी पशाई काफिरों की पहचान पिशाचों से की थी जिसे ग्रियर्सन ने भी ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से समीचीन माना था (पिशाच जे आर ए एस १९५०, २८५-८८)। पार्जिटर ग्रियर्सन से सहमत थे। उनका कथन है कि पिशाच वास्तविक जाति की संज्ञा थी, उसी का विकृतरूप दैत्य, दानववाची पिशाच शब्द में आ गया। (जे आर ए एस १९१२, पृ. ७१२)। पैशाची प्राकृत की अनुश्रुति इतनी पुष्ट है कि उसके बोलने वालों के अस्तित्व में सन्देह का कारण नहीं। (पृ. ४३१)

जिस प्रकार 'अत्रि' शब्द वेद में हानिकर कीट आदि के लिए भी व्यवहृत हुआ है वैसे ही पिशाच भी कुछ ऐसे ही अर्थ में भी प्रयुक्त है।

ऐसे अन्य भी अनेक रूप हैं उन सबका अध्ययन **'पिशाचवेद'** के स्वरूप तक पहुँचने में सहायक हो सकता है।

असुरवेद

संस्कृत वाङ्मय के शब्दों के जाने माने अर्थों से सुसन्तुष्ट अनुसन्धाता वेद और वैदिक वाङ्मय में अपनी इस नीवि = मूलधन से कृतकार्य नहीं हो पाते हैं। एक साधारण–सा उदाहरण है, आधुनिक भाषाविज्ञान के विपश्चित् देव और असुर पदों के प्रसिद्ध अर्थों को लेकर तथा इनका शाश्वत विरोध दृष्टि में रखकर कल्पना करते हैं कि वे आर्यों के भारत में आगमन के समय ईरानियों के साथ कुछ काल रहे। इसी अन्तराल में इनमें मतभेद हुआ फलतः आर्यों में दो दल बन गये देवपूजक तथा असुरपूजक। देवपूजक असुर शब्द को बुरे अर्थ में तथा असुर पूजक देव शब्द को बुरे अर्थ में लेने लगे। इस प्रकार अवेस्ता में देव शैतान अर्थ में तथा वैदिक वाङ्मय में असुर देवशत्रु रूप असत् सत्ता में प्रयुक्त होने लगा। भारतीय वाङ्मय में देवासुर संग्राम प्रसिद्ध है। अवेस्ता में असत् अर्थ में देव बहु प्रयुक्त है। साधारणतया भारतीय जन असुर का देव विरोधी अर्थ ही जानते हैं, फलतः भाषाविज्ञान शास्त्रियों की यह कल्पना व्यापक रूप से दृढ मूल हो गयी। व्याप्ति में कारण इतिहास, विशेषतः सांस्कृतिक इतिहास भी रहा।

वास्तविकता यह है कि वेद में असुर शब्द देव अर्थ में भी है। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का ५५वाँ सूक्त प्रजापति अथवा वैश्वामित्र वाच्य का आर्ष है। सूक्त में कुल २२ मन्त्र हैं तथा देवता विश्वेदेवाः, उषा, अग्नि, अहोरात्र, रोदसी अथवा द्युनिशा, दिशाएँ, इन्द्र पर्जन्यात्मा अथवा त्वष्टा हैं। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र का चतुर्थ चरण निम्नलिखित है :—

१४८ (क)**'महद् देवानामसुरत्वमेकम्'**।

तीन चरणों में कार्यों को बताकर इस चरण द्वारा उन कार्यों का उत्कर्ष यह कहकर बताया गया है कि 'यह देवों का अद्वितीय महत् असुरत्व है।' स्पष्ट ही असुरत्व यहाँ देवत्व पर्यवसायी है, अर्थात् यह देवों का अद्वितीय महत् देवत्व है, इसका अभिप्राय है। यह वैसा प्रयोग भी नहीं है जैसे मनुष्य का पशुत्व, मनुष्य का राक्षसत्व आदि, यहाँ देवों के उत्तम उत्कृट कार्य ही गिनाये गये हैं अतः यह मनुष्यों का देवत्व जैसा प्रयोग है। यहाँ प्रथम और अन्तिम मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं :—

(ख)**उषसः पूर्वा अध यद्व्यूषुर्महद्वि जज्ञे अक्षरं पदे गोः।**
व्रता देवानामुपनु प्रभूषन् महद् देवानामसुरत्वमेकम्।। १ ।।

निष्षिध्वरीस्त ओषधीरुतापो रयिं त इन्द्र पृथिवी बिभर्ति।
सखायस्ते वामभाजः स्याम महद् देवानामसुरत्वमेकम्।।२२।।

सूर्योदय से पूर्व ऊषाओं ने जब रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर दिया तब नभोमण्डल में अविनाशी महत् अक्षर यह सूर्य समस्त देवों के विभिन्न कार्यों को उपपत्तिपूर्वक प्रकृष्ट रूप में सम्भव करता हुआ उदित हुआ, यह देवों का अद्वितीय महत् असुरत्व है। १। हे इन्द्र! ये औषधियाँ तथा ये आपः सुनिश्चित रूप में सभी कार्यों के उत्तम साधक हैं, इधर पृथ्वी भी तुम्हारे लिए रयि-स्वधा रूपात्मक आधान-शक्ति को धारण किये हुए हैं। तुम्हारे सखा हम भी इसमें सहयोग करते हुए वननीय (अभिलषणीय) उत्तम फलों के भोक्ता हों, वस्तुतः देवों का यह महनीय अनुपम असुरत्व है।

भिन्न-भिन्न देवों के विशेषण के रूप में भी असुर शब्द का प्रयोग मन्त्रों में हुआ है, एतद्विषयक कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

१४९ (क) **अव ते हेळो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः।**
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि।

ऋक् १.२४.१४

यहाँ वरुण के लिए सम्बोधन 'असुर' है। हे वरुण! हम तुम्हारे क्रोध को नमस्कारों से स्वाध्यायादि, ब्रह्मयज्ञादि से तथा आत्मसमर्पणरूप हवियों से दूर करते हैं। हे असुर! प्रचेता राजन्! हमारे निमित्त अपना ऐश्वर्य प्रकट करते हुए हमारे किये पापों को नष्ट करो।

निम्नलिखित मन्त्र में इन्द्र के लिये 'असुर' सम्बोधन है :—

(ख) **त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर त्वमस्मान्।**
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः।

ऋ. १.१७४.१

हे राजेन्द्र! आप एवं जो ये देव हैं, मनुष्यों की रक्षा करें तथा असुर! आप हमारा पालन करें। आप हमारे अस्तित्व के पालक, मख (यज्ञ) वान्, त्राता, सद्भाव के आधार, पूर्णतः आच्छादक तथा तितिक्षा बल के दाता एवं धारक हैं।

निम्नलिखित मन्त्र में यह सविता का विशेषण है :—

(ग) **तद् देवस्य सवितुर्वार्यं महद् वृणीमहे असुरस्य प्रचेतसः।**
छर्दियेन दाशुषे यच्छति त्मना तन्नो महाँ उदयान् देवो अक्तुभिः।।

ऋ. ३.५१.१

असुर प्रचेता देव सविता के वरण योग्य उस महत् का हम वरण कर रहे हैं।

निम्नलिखित मित्रावरुण देवता सूक्त में असुर का प्रर्जन्य के लिए प्रयोग हुआ है :—

(घ)**धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।**
ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथः सूर्यमाधत्थो दिवि चित्र्यं रथम्।।
—ऋ. ५६.३.७

विपश्चित् मित्र और वरुण धर्म के द्वारा असुर की माया से कर्म-तन्त्र की रक्षा करते हैं। सम्पूर्ण विश्व में ऋत रूप से विराजित हैं। वन्दनीय, सब के रमणाधार सूर्य को द्युलोक में स्थापित करते हैं।

अग्नि देवता के निम्नलिखित मन्त्र में असुर अरणिद्वय के लिए प्रयुक्त हुआ है :—

(ङ)**प्र सप्त होता सनकादरोचत मातुरुपस्थे यदशोचदूधनि।**
न निमिषति सुरणो दिवे दिवे यदसुरस्य जठरादजायत।।
—ऋ. ३.२९.१४

'असुरस्य जठरात्' का अर्थ अग्नि के प्रेरक अरणिरूप काष्ठ के उदर से है। स्पष्ट है कि यहाँ 'असु क्षेपणे' (४.१०३) धातु से असुर को निष्पन्न माना गया है। इसी प्रकार का अर्थ एक अन्य मन्त्र में इसे परमसत्ता के अन्तर्यामी रूप को बताता है :—

(च)**आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।**
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ।।
—ऋक्. ३.३८.४

असुरस्य — अस्यति प्रेरयति सर्वानन्तर्यामितया इति असुरः, तस्य इन्द्रस्य। अन्तर्यामिभाव से सभी का प्रेरक परमात्मा असुर है, 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से निष्पन्न इन्द्र शब्द परमात्मा का वाचक है जो विभिन्न रूपों में इस विश्व में कण-कण में व्याप्त है अतः व्याप्ति के स्वरूपों के अनुकूल उसके देवादि सभी रूप भी इन्द्र हैं।

श्रद्धासूक्त (ऋ. १०.१५१) के निम्नलिखित मन्त्र में बताया गया है कि असुरों में देवों की प्रगाढ श्रद्धा है :—

(छ)**यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।**
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि।। ३।।

जैसे उग्र असुरों में देवों की श्रद्धा है वैसे ही हे श्रद्धे! विधिपूर्वक इष्टियाँ किये हुए इन समाज रक्षक भोजों में हमारे वचनों को दृढ करो।

इससे पूर्व तक के मन्त्रों में आये असुर पद के अर्थ महनीययशा सायणाचार्य के ही दिये हैं, ये प्रसंगानुकूल ठीक हैं किन्तु यहाँ देवों से भिन्न असुर हैं, जो देव विरोधी— न

सुर, असुर है, देव से निम्नकोटि का है उसमें देवों की श्रद्धा कैसे सम्भव है?, अत: खींचतान के साथ अर्थ करना पड़ा कि — इन्द्रादय उद्‌गूर्ण—बलेषु 'अवश्यमिमे हन्तव्या' इत्यादरातिशयं कृतवन्त:,। अत्यन्त बढ़े-चढ़े बल वाले असुरों में इन्द्र आदि देवों ने 'हमें इन्हें अवश्य मारना है।' इस रूप में आदरातिशय किया।

पाँच मन्त्रों वाले इस सूक्त की ऋषि कामायनी श्रद्धा है, देवता श्रद्धा है। सम्पूर्ण सूक्त में श्रद्धा का जो दिव्य एवं भव्य रूप बताया गया है उससे इस अर्थ का मेल भी नहीं है। आचार्यवर्य ने अथर्ववेद (शौनक शाखा) का भी भाष्य किया है, जहाँ निम्नलिखित मन्त्र भी है :—

(ज) **केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।**
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवाँ मनुष्याँ असुरानुत ऋषीन्।। ८.९.२४

सम्पूर्ण रूप से सोममयी सकृत् प्रसूता गौ ने प्रथम दोहन में काम्य पीयूष (अमृत) प्रदान किया तथा उससे देव, मनुष्य, असुर और ऋषि इन चारों को विभिन्न चार प्रकारों से तृप्त किया।

इस सूक्त पर सायण भाष्य नहीं है अत: केवली के पूर्व पेय के अधिकार से सम्पन्न देव और ऋषियों के साथ गिने असुर के इस उदात्त रूप के विषय में उनके विचारों के ज्ञान से वंचित ही रहना पड़ा है।

अथर्ववेद के ही अन्य दो मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं जिनका भाष्य प्राप्त है :—

(झ) **यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।**
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि।। ६/१०८/३

श्री सायणाचार्य द्वारा इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है :—

(ञ) **देवा यां मेधां जानन्ति, दानवा यां मेधां विदु:, कल्याणीं वेदशास्त्रादि-विषयायां मेधाम् ऋषय: वसिष्ठाद्या जानन्ति तां सर्वतोदिक्कां मेधां मयि साधके आस्थापयाम:।**

देव जिस मेधा को जानते हैं, दानव जिस मेधा को जानते हैं, वेद शास्त्रादि विषय वाली जिस कल्याणी मेधा को वसिष्ठ आदि ऋषि जानते हैं, सभी दिशाओं (विषयों) में गति वाली उस मेधा को मुझ साधक में (हम) स्थापित करते हैं।

असुर का दानव अर्थ उचित नहीं है, पर्यायवाची होते हुए भी इनके प्रातिस्विक अर्थ में भिन्नता होने से। मयि वयम् आस्थापयाम: = मुझ में हम स्थापित करते हैं जैसा

वाक्य भी असंगत है। यह तो स्पष्ट ही है कि असुर देवों से भिन्न किन्तु उनके जैसा ही महत्त्वशाली वर्ग है जिसकी मेधा की प्राप्ति की कामना है।

इस उद्ध्रियमाण मन्त्र का ऋषि अथर्वा तथा देवता पिप्पली उसी का महत्त्व मन्त्र गा रहा है :—

(ट) **असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः।**
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्।। ६/१०९/३

सायण भाष्यानुसार इसका अर्थ है, हे पिप्पली! वातरोगी के रोग को तथा क्षिप्त अर्थात् आक्षेपक नाम के वातरोग को दूर करने वाली औषध के रूप में सर्वप्रथम तुम्हें असुरों ने खोदा तथा इसके पश्चात् देवों ने।

अमोघवीर्य इस औषध का ज्ञान प्रथमतया असुरों को हुआ इसके बाद देवों को, यह ऐतिह्य कथन असुरों की श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है।

ऐसा नहीं है कि देवविरोधी अर्थ वाले वर्ग विशेष के लिए असुर शब्द का वेद में प्रयोग नहीं है। अथर्ववेद के दो मन्त्र एतदर्थ उद्धृत किये जाते हैं :—

१५० (क) **समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः।**
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः।। ४/१०/५

समुद्र से यह मणि वैसे ही उत्पन्न हुई है जैसे वृत्र से दिवाकर, ऐसी विशिष्ट यह मणि भय के कारण देवासुर आदि सभी के घातों से हमारी सर्वाङ्गीण रक्षा करे।

यहाँ असुर पूर्ववर्णित असुर से भिन्न तथा देवशत्रु हैं। दूसरा मन्त्र पृथिवी सूक्त (१२.१) का है :—

(ख) **यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।**
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।।५।।

जिस भूमि पर हमारे सबसे पूर्व के पूर्वजों ने नाना प्रकार के विशिष्ट कार्य किये, जिस भूमि पर देवों ने असुरों को पराजित किया, जो भूमि गौ, अश्व और पक्षियों की विशिष्ट आधार स्थली है वह पृथ्वी हमें ऐश्वर्य और तेज प्रदान करे।

इससे यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि भाषा विज्ञान के उद्भावकों द्वारा असुर का केवल देवशत्रु अर्थ मानकर की गई आर्य और ईरानियों के धार्मिक मतभेद की कल्पना सर्वथा निर्मूल है जो असुर के पूर्व प्रदत्त अर्थों से प्रमाणित है। न केवल इतना ही अपितु पारसियों द्वारा दिये गये देव शब्द के शैतान अर्थ को भी पारसियों की वैमनस्य पूर्वक उद्भावना मानना भी भ्रान्तिमूलक ही है वेद में देव का ऐसा अर्थ मिलने से।

अथर्ववेद में पण्यकाम अथर्वा का इन्द्रादि आठ देवताओं वाला ८ मन्त्रों का पण्य सूक्त है जिसका पण्यवृद्धियज्ञ में विनियोग किया जा सकता है। चतुर्थ मन्त्र का देवता प्रपण और विक्रय है। पाँचवें मन्त्र में 'सातघ्नदेवों के' निराकरण की प्रार्थना अग्नि के साथ ही देवों से भी की गई है :—

१५१ (क) **येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।**
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध।।

हे देवों! मैं धन (के विनियोग) से धन (वृद्धि) की कामना करता हुआ जिस (विनियुक्त) धन से व्यापार (क्रय-विक्रय) कर रहा हूँ, मेरा वह धन बढ़े, (हानि अथवा छीजत से) टूटे नहीं। हे अग्ने! लाभरूप हमारे सुख में बाधा पहुँचाने वाले देवों को हवि से दूर रखो।

सात = सुख, हा = नाशक, सातहन् के द्वितीया बहुवचन का रूप 'सातघ्नः' है जो देवान् का विशेषण है। इन देवों को प्रतिकूल ग्रह अथवा वैसे ही कोई देव नहीं समझना चाहिए। तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में इनका व्याख्यात्मक विस्तृत स्वरूप वर्णित है। तै. सं. का यह स्थल द्रष्टव्य है :—

(ख) **ये देवा यज्ञहनो यज्ञमुषः पृथिव्यामध्यासते।**
अग्निर्मा तेभ्यो रक्षतु गच्छेम सुकृतो वयम्।।
आगन्म मित्रावरुणा वरेण्या रात्रीणां युवयोर्यो अस्ति।
३.५.४.१-३

ये देवा यज्ञहनो यज्ञमुषो अन्तरिक्षेऽध्यासते।
वायुर्मा तेभ्यो रक्षतु गच्छेम सुकृतो वयम्।..... ४-५
ये देवा यज्ञहनो यज्ञमुषो दिव्यध्यासते।
सूर्यो मा तेभ्यो रक्षतु गच्छेम सुकृतो वयम्।..... ७-८

जो यज्ञनाशक तथा यज्ञचोर देव पृथिवी पर अधिष्ठित हैं, अग्नि उनसे मेरी रक्षा करे, हम सुकृत् होते हुए जावें।

जो यज्ञनाशक, यज्ञचोर देव अन्तरिक्ष में स्थित हैं, वायु उनसे मेरी रक्षा करे, सुकृत् भाव सम्पन्न हम आगे बढ़ें।

यज्ञनाशक, यज्ञचोर जो देव द्युलोक में अध्यास्थित हैं, सूर्य उनसे मेरी रक्षा करे सुकृद्भावापन्न हम उस लोक में जावें।

यहीं ब्राह्मण ने इनकी व्याख्या की है :—

(ग)**यज्ञहनो वै देवा यज्ञमुषः सन्ति, त एषु लोकेष्वासत आददानाः विमथ्नाना यो ददाति यो यजते तस्य। ये देवा यज्ञहनः, पृथिव्यामध्यासते ये अन्तरिक्षे ये दिवि-इत्याह, इमानेव लोकाँ-स्तीर्त्वा सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति।**

देव यज्ञहन्ता तथा यज्ञस्तेन होते हैं। जो दान करता है, यजन करता है उसके दान को बीच में झटक लेते हैं तथा यज्ञ को तहस-नहस करते हैं, ऐसा करते हुए वे इन लोकों में पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में रहते हैं। इनसे सुरक्षित दाता एवं यष्टा इन लोकों को पारकर गृह और पशुओं सहित स्वर्ग को प्राप्त करता है।

मैत्रायणी संहिता में १.४.८.३७ में तथा काठक संहिता में ३२.६.११-१५ में भी थोड़े से अन्तर से यही पाठ है।

महाभारत वनपर्व अ. २२० में भी यही विषय है :—

(घ)**देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् सृजन् पञ्चदशोत्तरान्।। १०।।**
सुभीममतिभीमं च भीमं भीमबलाबलम्।

एतान् यज्ञमुषः पञ्च देवानां ह्यसृजत्तपः।। ११।।
सुमित्रं मित्रवन्तं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम्।

मित्रधर्माणमित्येतान् देवानभ्यसृजत्तपः।। १२।।
सुरप्रवीरं वीरं च सुरेशं च सुवर्चसम्।

सुराणामपि हन्तारं पञ्चैतानसृजत्तपः।। १३।।
त्रिविधं संस्थिता ह्येते पञ्च पञ्च पृथक् पृथक्।

मुष्णन्त्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः।। १४।।
तेषामिष्टं हरन्त्येते निघ्नन्ति च महद्धविः।

स्पर्धया हव्यवाहानां निघ्नन्त्येते हरन्ति च।। १५।।
बहिर्वेद्यां तदादानं कुशलैः सम्प्रवर्तितम्।। १६।।

अब अन्य यज्ञमुष्— यज्ञ के हरने तथा नष्ट करने वाले, १५ उत्तर देवों की सृष्टि करते हुए १ सुभीम २ अतिभीम ३ भीम ४ भीमबल ५ तथा अबल (सर्वोत्तम बली) इन पाँच देवों को तप ने जन्म दिया। इसके पश्चात् १ सुमित्र २ मित्रवान् ३ मित्रज्ञ ४ मित्रवर्धन तथा ५ मित्रधर्मा नाम के पाँच देवों की सृष्टि तप ने की। इसके पश्चात् १ सुरप्रवीर २ वीर ३ सुरेश ४ सुवर्चा तथा ५ सुरहन्ता की सृष्टि की। पाँच-पाँच के ये तीन गण पृथक्-पृथक् रूप में तीन विधाओं — पृथ्वीस्थ, अन्तरिक्षस्थ तथा द्युस्थ में रहते हुए यज्ञ क्रियाशील जनों को स्वर्ग से वंचित कर देते हैं। अन्य अग्नियों के स्पर्धा भाव से ये यजमानों के इष्ट (प्रियभाव) का अपहरण करते हैं तथा उनकी महाहवियों को नष्ट कर देते हैं।

देव शब्द के अर्थ में दान, दीपन, द्योतन तथा द्युस्थान ये चार प्रवृत्ति-निमित्त महर्षि यास्क ने माने हैं जैसा कि निरुक्त के इस वाक्य से विदित होता है :—

१५२ **देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा।** ७.१५

केवल दान से, केवल दीपन से, केवल द्योतन से, केवल द्युस्थानवास से, अथवा इनके एकाधिक भावों से अथवा सभी भावों के योग से देवत्व होता है, यह 'वा' का अभिप्राय है। मेघ देव है क्योंकि वह जल का दाता है। सूर्य में दानादि सभी भाव हैं अतः देव है।

यज्ञनाशक इन देवों में इनमें से एक भी भाव नहीं है फलतः इस रूप में इनका देवत्व नहीं है। वेद और वैदिक ग्रन्थों में इन्हें स्पष्टतः देव कहा गया है जो लाक्षणिक भी नहीं है। इस प्रकार जब अर्थ विचार करते हैं तो भगवान् पाणिनि का धातुपाठ इसका मार्ग देता है। वहाँ दिवु अर्दने (१०.१७०) धातु है, अर्दन का अर्थ पीड़ा देना है, अतः देवयति इति देवः = पीडकः अर्थ स्पष्ट है। यह सूत्र संख्या क्षीरतरङ्गिणी के अनुसार है। मैत्रेय (धातु प्रदीप) काशकृत्स्न कातन्त्र, शाकटायन, हेमचन्द्र (द्विवण् अर्दने ९.१८५), वोपदेव (दिव्-अर्दे, पद्य २६२, कविकल्पद्रुम), हर्षकुलगणि (कविकल्पद्रुम में दिवण् पीडायाम्—दशम पल्लव १४-४२ पद्य में) सभी इस अर्थ में यह धातु पढ़ते हैं। श्री सायण माधवीयधातुवृत्ति में, दिवु मर्दने (१०.१६७) रूप में पाणिनिसूत्र को पढ़ते हैं तथा हेमचन्द्रादि द्वारा दिया गया उदाहरण 'देवयति शत्रून्' देते हैं। काशकृत्स्न और पाणिनि की इस अविगीत परम्परा से दिवु का अर्दन, मर्दन तथा पीडन अर्थ सुप्रसिद्ध है।

महाभारत के भारतभावदीप टीका के प्रणेता यशस्वी नीलकण्ठ इन (१५१ घ में) उद्धृत पद्यों की टीका के आरम्भ में लिखते हैं :—

१५३ (i) **असुरसृष्टिमाह—देवान् इति, उत्तरान् अपाश्चात्यान्।**

ग्रन्थकार पाञ्चजन्य तपः = अग्नि की सन्तति के रूप में असुरों की सृष्टि का वर्णन 'देवान् यज्ञमुषः' आदि पद्यों से कर रहे हैं। स्पष्ट है कि नीलकण्ठ यहाँ देव का असुर अर्थ निस्सन्दिग्ध रूप से ले रहे हैं। यह ध्यान रखने का विषय है कि आचार्य नीलकण्ठ के काल में अभी भाषाविज्ञानशास्त्र की कल्पना तक नहीं थी तथा एतन्मूलक आर्य-पारसी मतभेद जैसी कोई बात वेदों तथा अवेस्ता के वचनों से झलकती तक नहीं थी। आज के अधूरे अध्ययन के ऐसे भ्रामक परिणाम ही होंगे।

अवेस्ता के दोनों प्रकार के उद्धरण प्रस्तोतव्य विषय से साक्षात् सम्बद्ध न होने से ग्रन्थ कलेवर की अनपेक्षित वृद्धि करेंगे, अतः इतना ही कहना अभीष्ट है कि दोनों में देव, असुर दोनों शब्दों के दोनों अर्थ प्रचलित थे, कालान्तर में एक-एक अर्थ रूढ-सा हो गया। देववेद अथवा असुरदेव के स्वरूप के अनुसन्धान में यह तथ्य भी दृष्टि में रखना

चाहिये, अतः भूमिका के रूप में सामान्य निर्देश यहाँ किया गया है कि अब असुर स्वरूप को पुनः पर्यालोचित करते हैं।

पूर्व में (उद्धरण १४९ घ) ऋङ्मन्त्रे 'धर्मेण मित्रावरुणा' में 'असुरस्य मायया' पद आये हैं। यजुर्वेद के निम्नलिखित रूप में भी 'आसुरी माया' का उल्लेख है :—

१५३ (ii) (क) **दृंहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरीमाया स्वधया कृतासि।**
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन्।।
११/६९

ऐसा ही एक दूसरा मन्त्र और प्रस्तुत है जो असुरमाया का उल्लेख कर रहा है :—

(ख) **वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्तात्।**
महीं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्।। १३.४४

इन दोनों का क्रमशः अर्थ है — दिव्यगुणयुक्ते पार्थिवि! उखे! तुम स्वस्तिभाव के लिए सुदृढ रहो तुम्हें ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि तुम स्व-धारणात्मिका शक्ति से निर्मित आसुरीमाया हो। तुम्हारे माध्यम से अर्पित यह हवि देवों द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवित हो। तुम इस यज्ञ में अखण्ड भाव से उद्‌गत हो। १९

हे अग्ने! त्वष्टा की अनुग्रह पात्र, सब का वरण—आच्छादन आदि से संरक्षण—करने वाली, वरुण की नाभि, उत्कृष्टतम रज = आरम्भक तत्त्व से उत्पन्न, महती लोकरूपा, प्राणवत्ता की उत्तम निदर्शनभूत इस अवि की परम व्योम में हिंसा मत होने देना।। ४४।

यज्ञ में आलम्भनीय पशु अवि, पृथ्वी का प्रतिनिधि है। दोनों ही मन्त्रों का सम्बन्ध विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी से है और यह असुर की माया है, इससे असुर का तात्त्विकरूप समझा जा सकता है। वेद पृथ्वी को आत्मशून्य अथवा जड़ नहीं मानता है। पृथिवी सूक्त (१२.१ अथर्व) का मन्त्र पृथ्वी के यथार्थ रूप को व्यक्त कर रहा है जो उपरि व्याख्या का जैसे समर्थन हो :—

१५४ **यार्णवेऽधिसलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।**
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सो नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।। ८।।

जो रोदसी त्रिलोकी के आपोमय समुद्र अर्णव में सलिलमध्य में अपने उद्‌भव के पूर्व विद्यमान थी। मनीषियों ने अपनी मायाओं से उसके उद्‌भव में तदनुकूल चेष्टाएँ कीं। जिस पृथ्वी का अमृत हृदय (केन्द्र) परमव्योम में सत्य से आवृत है, ऐसी यह भूमि हमारे उत्तमराष्ट्र में त्विषि और बल की आधायिका हो।

असुर का यह निर्मातृत्व वनस्पतिजगत् में भी द्रष्टव्य है। पूर्व (उद्धरण १४९ ट) में औषधि का प्रथम वपन असुरों द्वारा तथा द्वितीय देवों द्वारा बताया गया है। प्रकारान्तर से इसकी व्याख्या निम्नलिखित अथर्वमन्त्र में मिलती है :—

१५५ **असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा।**
दिवस्पृथिव्याः सभूता सा चकर्थारसं विषम्।। ६/१००/३

इस मन्त्र का ऋषि गरुत्मान् है। इसमें कहा गया है कि हे वनस्पते! जो तुम असुरों की दुहिता–पुत्री हो वही तुम देवों की स्वसा अर्थात् स्वकीयत्वेन देवों के मध्य रहने वाली हो, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक से उत्पन्न तुमने विष को निर्वीर्य कर दिया है।

असुरों में यह शक्ति क्यों न हो जब ब्रह्मा ने इन्हें उत्पन्न ही विश्वोत्पत्ति के तत्त्वरूप में किया है। विष्णुपुराण के निम्नलिखित पद्य स्पष्ट कह रहे हैं :—

१५६ (क) **ततो देवासुरपितॄन् मनुष्याँश्च चतुष्टयम्।**
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत्।। १.५.३०।।

उच्चावचानि भूतानि गात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे।
देवासुरपितॄन् सृष्ट्वा मनुष्याँश्च प्रजापतिः।। ५८।।

ततः पुनः ससर्जादौ स कल्पस्य पितामहः।
यक्षान् पिशाचान् गन्धर्वान् तथैवाप्सरसां गणान्।। ५९।।

नरकिन्नररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान्।
अव्ययं च व्ययं चैव यदिदं स्थाणुजङ्गमम्।। ६०।।

कल्पारम्भ में सृष्टि की इच्छा वाले प्रजापति ब्रह्मा ने देव, असुर, पितरः तथा मनुष्यों के समुदित चतुष्टय की जिन्हें 'अम्भः' कहते हैं सृष्टि करते हुए अपना इनसे योग किया। नाना प्रकार की सृष्टि की ५७ पद्य तक गणना करते हुए ५८वें पद्य में कहा गया है कि इस प्रकार प्रजापति के अवयवों से नाना प्रकार के भूत–प्राणी अप्राणी— प्रकट हुए। ये देवासुर–पितृ–मनुष्य की उपज थे इसके पश्चात् प्रजापति पितामह ने यक्ष, पिशाच, गन्धर्व, अप्सराओं के १४ कुल तथा नर, किन्नर, राक्षस, पक्षी, पशु, मृग, उरग के रूप में अव्यय और व्यय रूप इस अचर और चर को जन्म दिया।

वायु पुराण (पूर्वार्ध) नवम अध्याय में भी यह विषय है। ब्राह्मणों में यह विषय है जिसे पुराण ने व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रवचन है :—

(ख) **'तानि वा एतानि चत्वार्यम्भांसि देवाः मनुष्याः पितरोऽसुराः। तेषु सर्वेष्वम्भो नभ इव।'**

वे ही चार अम्भः हैं १ देव, २ मनुष्य, ३ पितरः तथा ४ असुर। इन चारों में अम्भः नभ (आकाश) की भाँति व्याप्त है।

मैत्रायणी संहिता में इन्हें नभः कहा गया है तथा इन सब में अम्भः को नभ की भाँति बताया गया है :—

(ग) **चत्वारि वै नभांसि देवाः पितरो मनुष्या असुराः सर्वेषु ह वा एतेष्वम्भो नभ इव भवति।।**

—खिल काण्ड २/१

अम्भ के इस स्वरूप को समीक्षा-चक्रवर्ती श्री मधुसूदन जी ओझा ने 'महर्षि-कुलवैभव' (मूल, भाग द्वितीय रूप) में भृगु— अङ्गिरा ऋषिकुल के प्रकरण में भलीभाँति स्पष्ट किया है। उसका निष्कर्ष भाग यहाँ प्रस्तुत है :—

१५७ **तथा चेह पृथिव्यां चन्द्रे वा यावन्तोऽग्निवाय्वादित्या अमृताः प्राणाः ते देवाः, सौम्याः प्राणाः पितरः, भौतरसात्मकाः मर्त्याः प्राणा असुराः। हिरणमया देवाः, राजताः पितरः, आयसा असुराः। एत एव च त्रयः प्रज्ञायुक्ताः प्राणा मनुष्या इति सिद्धम्** (पृ. ६७)

और भी स्पष्ट देखें— इस पृथ्वी में अथवा चन्द्र में जितने भी अग्नि, वायु, आदित्य रूप अमृत प्राण हैं वे देव हैं, सौम्य प्राण पितर हैं, भूतरसात्मक मर्त्य प्राण असुर हैं। देव हिरण्मय हैं, पितर राजत हैं, असुर आयस (पार्थिव लोह आदि धातुमय) हैं। देव, पितर और असुर नाम के प्राण प्रज्ञायुक्तता की स्थिति में मनुष्य हैं, यह इनका स्वरूप है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये चारों देव, पितृ, असुर, मनुष्य अस्मदादिविध प्राणी न होकर प्राण विशेष हैं, इसीलिए पुराण इनसे सभी प्रकार की सृष्टि का उद्भव बता रहा है, जैसा कि उद्धरण १५६ क के पुराण-पद्यों से विदित हो रहा है। यहाँ ६० वें पद्य में नर गिना गया है, वह मानव है।

पुराणों का यहाँ का पाठ अतीव विकृत है। विष्णु पुराण के टीकाकार यथास्थित पाठ के अनुसार टीका करते हैं, उनके अनुसार चलते आज के अनुवादक तत्त्वार्थ व्यक्त करने में असमर्थ रहे हैं।

इस रूप में असुरवेद को समझा जा सकता है। अब क्रम प्राप्त इतिहास वेद पर कुछ विचार किया जा रहा है।

इतिहास वेद

गोपथ ब्राह्मणोक्त सर्प, पिशाच, असुर वेदों के नाम से विद्वानों का भी प्रायः परिचय नहीं रहा है, कहीं परिचय हुआ भी तो इन अटपटे से नामों पर ध्यान भी नहीं गया

हो, यह स्वाभाविक है। इतिहासवेद और पुराणवेद तो ऐसे नाम नहीं है जिन पर ध्यान न जावे।

इतिहास और साथ ही पुराण के अध्ययन की अनिवार्यता सभी परमाचार्यों द्वारा सभी शुभकृत्यों में निर्विवाद रूप से बतायी गयी है जो इन शास्त्रीय उद्धरणों से विदित हो रही है :—

१५८ (क) **आदिम वेदाचार्यों में वरिष्ठ भगवान् मनु पित्र्य-कार्य में इतिहास पुराण का श्रवण-श्रावण करने का उपदेश देते हैं– 'स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये'** —स्मृति ३/२३२, पूर्व उद्धरण क्रमांक २

(ख) **भगवान् याज्ञवल्क्य जपयज्ञ की उत्कृष्ट सिद्धि में इतिहास स्वाध्याय की गणना करते हैं 'वेदाथर्वपुराणानि'**

—स्मृति १.१०१, पूर्व उद्धरण क्रमांक ३ पद्य द्वारा।

(ग) **अपने शिष्य सांकृति को अष्टाङ्गयोगोपदेश में महायोगी दत्तात्रेय 'जाबाल दर्शनोपनिषत्' में इतिहास पुराण में प्रगाढ मानसवृत्ति को जप कहते हैं,** (पूर्व उद्धरण क्रमांक ४)।

(घ) **छान्दोग्योपनिषत् ७/१/२ का निर्देश पूर्व उद्धरण क्रमांक ५९ में किया जा चुका है जहाँ देवर्षि नारद भगवान् सनत्कुमार के सम्मुख अपने पठित विषयों की गणना में चारों वैदिक संहिताओं के अनन्तर पुराण को पञ्चम स्थान पर रखते हुए इसे वेदों का वेद कहते हैं।**

इसी प्रपाठक में गणना का यह विषय तीन बार और आवृत्त हुआ है। इतिहास पुराण का इससे बढ़कर महत्त्व और क्या होगा कि इसे वेदों का वेद कहा गया है। इस तथ्य को ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश (११ में समुल्लास, पृष्ठ २२५, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट देहली संवत् २०३८) में **'इतिहास और पुराण पञ्चम वेद कहाते हैं।'** वाक्य से प्रकट किया है।

इतिहास से केवल मनुष्यों का, पार्थिव प्राणियों का तथा पृथ्वी का ही ज्ञान नहीं होता है अपितु सम्पूर्ण आदित्य मण्डल का भी ज्ञान होता है, यह तित्तिर ऋषि का दर्शन है :—

(ङ) **स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानचतुष्टयम्।**
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते।। —तै. आरण्यक।

स्मृति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (इतिहास) तथा चतुर्थ अनुमान, इन सभी से आदित्य मण्डल का विधान किया जावेगा।

भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास महाभारत में एक पद्य देते हैं जो प्रायः उन्हीं के वचन के रूप में प्रसिद्ध है :—

१५९ (क) **इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।। —आदि प. १/२६७।।

इतिहास तथा पुराण से वेद का युक्तियुक्त एकात्म बृंहण करना चाहिये। अल्पश्रुत अर्थात् शास्त्रों की समग्रता रूप दृष्टि से शून्य व्यक्ति से वेद डरता है कि यह मुझ पर चोट लगाने वाला है।

यह पद्य अनेक पुराणों में स्वल्प से पाठ भेद के साथ मिलता है। उपलब्ध सभी पुराण महाभारत के उत्तरवर्ती हैं किन्तु इनमें निहित सामग्री परम्परा से प्राप्त चिर पुरातन है, अतः इस पद्य के विषय में निर्णायक रूप से नहीं जा सकता है कि यह व्यासोपज्ञ है।

महामति कौटिल्य ने शासक के दैनिक कृत्यों में इतिहास श्रवण की अवश्यकर्तव्यता अर्थशास्त्र में बतायी है :—

(ख) **पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणम्, इतिवृत्तम्, आख्यायिका— उदाहरणम्, धर्मशास्त्रम्, अर्थशास्त्रं च इति इतिहासः।** १/४

दिन के पश्चिम भाग को इतिहास श्रवण में लगावें; पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ये सभी इतिहास हैं।

इतिवृत्तादि का स्वरूप पुराणेतिहास के स्वरूपभेद प्रदर्शन में बताया जावेगा।

विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवत के यशस्वी टीकाकार श्रीधर स्वामी ने इतिहास का यह व्यापक रूप परम्परागत स्मृति से प्राप्त निम्नलिखित पद्य को उद्धृत कर प्रकट किया है :—

१६० **धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।**
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।। —इति. स्मृतेः।।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों के उपदेश से समन्वित, पूर्व घटित घटना के वर्णन से युक्त कथ्य को इतिहास कहते हैं।

वस्तुतः यह चिरकालिक मान्यता है कि इतिहास में सब कुछ है यहाँ तक कि वेद भी समाविष्ट है।

महर्षि पुनर्वसु कृष्णात्रेय अग्निवेश, भेल आदि शिष्यों को कायचिकित्सा प्रवचन में प्रासंगिक रूप में कहते हैं :—

१६१ **'ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशः वेदादिः'।** —विमान. ८/४३

सुप्रसिद्ध (यह) इतिहास (विषय) आप्तों का उपदेश वेदादि है।

इसी (चरकसंहिता के विमान स्थान) में वे आप्त का स्वरूप बताते हैं :—

आप्ताः ह्यवितर्क—स्मृति—विभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवं गुणयोगाद् यद्वचनं तत्प्रमाणम्। ४/२

अनिश्चय स्मृति तथा एकदेश से विपरीत, सन्देहमुक्त निश्चितज्ञान, अनुभव सम्पन्न, समग्रशास्त्रवेत्ता, आग्रह विशेष तथा उपताप से सर्वथा मुक्त व्यक्ति आप्त है। इन आप्तों— प्रमाणभूत तत्त्वदर्शियों— का वचन ही आप्त उपदेश है, वही प्रमाण है। उदाहरण रूप में आप्त वचन में वे वेद की प्रथम गणना कर आदि शब्द से सभी शास्त्रान्तरों का ग्रहण कर लेते हैं।

इससे वेद का इतिहासत्व ज्ञात होता है, यही इतिहास की महत्ता है।

कुछ और आगे बढ़कर देखते हैं तो वेद के साथ वेदवेद्य परम पुरुष को भी 'इतिहास' नाम से हमारे पूर्व पुरुषों ने देखा और जपा है। महाभारत अनुशासनपर्व में 'शिवसहस्रनामस्तोत्र' में एक नाम 'इतिहास' भी है :—

१६२ **'इतिहासः सकल्पश्च गौतमोऽथ निशाकरः'।** १७/७८

ये चार नाम इतिहास, कल्प, गौतम और निशाकर हैं।

इतिहास की इस महत्ता को बुद्धि तथा हृदय में न रखकर इतिहास के पाश्चात्य स्वरूप को, घटना क्रम को देशकाल के आधार पर प्रस्तुत करने मात्र को दृष्टि में रखकर यह मानना और प्रचारित करना कि भारतीयों को इतिहास लेखन का ज्ञान नहीं है, सर्वथा निर्मूल है।

वेद में इतिहास का स्मरण

यह सम्पूर्ण प्रतिपादन साक्षात् वेद से न होकर वेदेतर वैदिक वाङ्मय से होने मात्र से इन आर्ष वचनों को निर्मूल अतएव अग्राह्य नहीं माना जा सकता है। वेदमन्त्रों में भी इतिहास पुराण का स्मरण किया गया है।

१६३ **पूर्व में ७२ ख उद्धरण में अथर्ववेदीय व्रात्य काण्ड के तीन मन्त्र दिये गये हैं। जिनमें बृहती दिशा में गमन करते हुए व्रात्य का इतिहास, पुराण, गाथा एवं नाराशंसियों का अनुगमन बताया गया है।**

अथर्ववेद का यह पन्द्रहवाँ काण्ड पूरा ही व्रात्य से सम्बद्ध है। जैसे नर के सम्बन्ध से भगवान् का एक रूप तथा नाम नारायण है, वैसे ही व्रात के सम्बन्ध से एक नाम रूप

व्रात्य भी है। भगवान् यास्क ने निघण्टु (२/३) में मनुष्य के २५ नामों में १४वाँ नाम व्रात पढ़ा है। इतिहास पुराण का सम्बन्ध व्रात और व्रात्य से होना स्वाभाविक है।

वेद में इतिहास के अभाव का प्रवाद

जब वेद स्वयं ही इतिहास और पुराण की चर्चा स्पष्टरूप में करता है तो वेद में इतिहास न मानना वैदिकों के लिए विचारणीय है जो सम्भवतः विवशता मूलक है।

वेद अपौरुषय है इसे सभी एक स्वर से स्वीकारते हैं। अपौरुषय वेद में इतिहास की सत्ता की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है। अतः न्याय यही है कि वेद में इतिहास नहीं है।

दूसरी ओर देखते हैं तो वेद में पुराण, गाथा, नाराशंसी जैसे इतिहास प्रकारक शब्द और स्वयं इतिहास शब्द मिलते ही हैं, इतिहास के ऐसे अन्य भी अनेक संकेत मिलते हैं जिनसे वेद में इतिहास की सत्ता सुदृढ प्रमाणित होती है। यही कारण है कि ब्राह्मणों में इतिहास है।

महर्षि यास्क भी निरुक्त में स्पष्ट रूप से बताते हैं कि वेद इतिहास मिश्र है :—

१६४ **'तत्र ब्रह्म ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रम् इतिहासमिश्रं भवति।'** ४/६

ब्रह्म अर्थात् वेद ऋचामिश्र, गाथामिश्र तथा इतिहास मिश्र होता है। ऋचाएँ तो वेद का घटक अवयव है अतः गाथा हो, इतिहास हो, पुराण हो अथवा कोई अन्य विषय हो निबद्ध तो ऋचा से ही होगा, फलतः ऋक् शब्द यहाँ विषयगत अर्थ की दृष्टि से स्तुति अथवा अर्चना में पर्यवसित होता है। इस प्रकार यास्क यहाँ समास पद्धति में स्तुति, गाथा और इतिहास से मिश्रता उपलक्षण रूप में बता देते हैं।

निरुक्त के सर्वप्राचीन टीकाकार श्री भगवद्दुर्ग (विक्रमादित्य के समकालीन स्कन्दस्वामी से स्मृत होने से तत्पूर्व भावी) इतिहास मिश्र का अर्थ इतिहास युक्त ही करते हैं तथा इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :—

१६५ **स एष सूक्तानां स्वभावः प्रदर्शितः — इतिहाससम्बन्धान्यपि सूक्तानि भवन्ति। तेषु प्रकरणादपि सन्दिग्धस्य पदस्य अर्थः अध्यवसेयः, यथा इह पर्शुशब्दः भाष्यकारेण अध्यवसितः इति।**

ऋषि यास्क का 'तत्र ब्रह्म.' कथन सूक्तों के स्वभाव को बताता है कि इतिहास से सम्बन्धित सूक्त भी होते हैं। उन सूक्तों में प्रकरणबल से सन्दिग्ध पद के अर्थ का निश्चय करना चाहिये जैसे यहाँ पर्शु शब्द के अर्थ का निर्णय स्वकृत निघण्टु के भाष्यकार यास्क ने किया है।

ऋग्वेद और निरुक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी पहले व्यक्ति हैं जो इस स्थल पर इतिहास के नित्य और अनित्य पक्ष की उद्भावना करते हैं। स्कन्दस्वामी यज्ञसंस्थाओं के आहर्ता होने से 'सम्राट्' पद विभूषित थे। ये शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु थे। हरिस्वामी भी संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष थे। स्कन्दस्वामी लिखते हैं :—

१६६ **पुरावृत्तम् इतिहासः तेन मिश्रम् (इतिहासमिश्रम् इति)।**
त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊत ये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः (ऋग्वेद सं. १.१०५.१७) इत्यादिना।

त्रितश्चात्र कल्पान्तरे य आसीत् स अभिप्रेतः। आत्मनो वा परोक्षरूपेण प्रतिनिर्देशः।

नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः कर्मपाशैः त्रिः स्वर्गनरकमर्त्येषु बद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावाद् अपवर्गमनाप्नुवन् नरके घटीयन्त्रघटितसंसारे बम्भ्रम्यमाणः परिदेवयाञ्चक्रे।

इतिहास का अर्थ है पुरावृत्त अर्थात् पूर्वकाल में घटित घटना, उससे युक्त (इतिहास मिश्र, शब्द का अर्थ है) जैसे यहाँ— कूप में अवहित एवम् अवधान युक्त त्रित ने रक्षा के लिये देवों को पुकारा, बृहस्पति ने उसे सुना, इत्यादि १.१०५.१७ ऋगर्थ बोधित विषय से युक्तता।

किसी अन्य कल्प में जो त्रित था यहाँ मन्त्र में वही त्रित अभिप्राय का विषय है। अथवा यह भी माना जा सकता है कि यहाँ त्रित शब्द के माध्यम से आत्मा का अपने विषय में कथन (उत्तमपुरुष में न होकर प्रथम पुरुष द्वारा) परोक्ष रूप में किया गया है।

इसे नित्य पक्ष में इस प्रकार देखा जा सकता है। त्रित का अभिप्राय शुक्ल है जो विजातीय भाव से असंस्पृष्ट होने से पूर्णतः निष्पाप अर्थ में पर्यवसित होता है। ऐसा कोई भी ज्ञानी क्षेत्रज्ञ जो कर्मपाश से मुक्त तथा स्वर्ग, नरक और मृत्युलोक से पार हो गया है, त्रित है। इससे भिन्न वह क्षेत्रज्ञ जो कर्मज्ञान के समुच्चय के अभाव से अपवर्ग प्राप्त नहीं कर सका, नरक में घटीयन्त्र जैसे संसार में बार-बार भटकता हुआ परिदेवना (विलाप) कर रहा है।

स्कन्दस्वामी के इन विचारों पर बहुत कुछ कहने की अपेक्षा है, यहाँ अति संक्षेप में कुछ बिन्दु प्रस्तुत हैं :—

यदि कल्पान्तर के किसी व्यक्ति का उल्लेख मानें तो भी इतिहास तो है ही। यदि त्रित—भिन्न किसी क्षेत्रज्ञ के जन्मजन्मान्तर के भटकाव का रोना लेते हैं तो वह भी इतिहास ही है। सूक्त में त्रित का विलाप है अतः यह संगत भी नहीं है। क्या यह न्याय

होगा कि देश, काल तथा व्यक्ति का नाम आदि के सहित विवरण हो तो वह अनित्य है, वही यदि नाम शून्य हो तो नित्य। 'हिमाच्छादित पर्वत' नित्य, इन्हें यदि हिमवान्, हिमालय कह दिया जाये तो अनित्य है, वस्तुतः मनस्तोष से भिन्न यह अन्य कुछ भी नहीं है। यही पद्धति परवर्ती आधुनिक विद्वानों ने समाधान के लिए ली है, आर्यसमाजीय विद्वान् भी उनमें हैं।

इसी भाँति वेद की अपौरुषेयता की रक्षा के लिए वेद मन्त्रों में आये पुराण, इतिहास आदि शब्दों की संगति ब्राह्मण ग्रन्थों में देखने का सुझाव भी है। यह भी उचित नहीं हैं। मन्त्र अपौरुषेय हैं, ब्राह्मण पौरुषेय हैं। अपौरुषेय का निर्दिष्ट विषय पौरुषेय में, जो कि परवर्ती है, हो यह कैसे सम्भव है? यदि ब्राह्मणों में वह सम्भव है तो रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों में तथा पुराणों में क्यों नहीं माना जा सकता है। वेद का संकेतित वह ब्राह्मण तक ही सीमित है, आगे नहीं जा सकता है, इसमें कोई विनिगमना नहीं है।

पूर्व में यह विषय उद्धरण क्रमांक ७५ से ८० तक विचारा जा चुका है। अतः इस प्रकरण में इतनी ही आवृत्ति यथेष्ट है। यहाँ पूर्व में उद्धृत ६८ viii क्रमांक में शतपथ का वाक्य भी ध्यातव्य है जहाँ 'इतिहासो वेदः सोऽयम्' कहा गया है। इतिहास का वेदत्व वेद में आये आख्यान आदि से सैकड़ों मन्त्रों में सोदाहरण देखा जा सकता है।

पुराण वेद

गोपथब्राह्मण का पाँचवाँ वेद है यह पुराण। इस पर पूर्व में भी चर्चा हो चुकी है, इतिहास के साथ भी इसका निरन्तर उल्लेख रहा है। इस सम्पूर्ण निबन्ध का प्रतिपाद्य भी यही है, अतः क्रम प्राप्त गणना के अनुसार यहाँ इसका उल्लेख मात्र किया गया है।

अन्य वेद

इसी गोपथब्राह्मण में वेदों का निर्माण कल्प, रहस्य, ब्राह्मण आदि सहित बताया गया है जो निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है :—

१६७ **एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः।** पूर्वभाग २/१०

इस प्रकार से सब वेद १ कल्प, २ रहस्य, ३ ब्राह्मण, ४ उपनिषत्, ५ इतिहास, ६ अन्वाख्यान, ७ पुराण, ८ स्वर, ९ संस्कार, १० निरुक्त, ११ अनुशासन, १२ अनुमार्जन तथा १३ वाकोवाक्य सहित निर्मित हुए।

उदात्त आदि स्वर, प्रकृति–प्रत्यय–विकरण—योग रूप संस्कार पदों के माध्यम से भाषा के सहज अंग हैं, इस प्रकार वेद मन्त्रों का इनके साथ ही प्रादुर्भाव होता है, जो स्वाभाविक है। व्याकरण की सार्थकता अथवा कृतकृत्यता स्वर और संस्कार के अनुसन्धान तक ही है, अर्थ उसके क्षेत्र के बाहर है। अर्थानुसन्धान निरुक्त का कार्य है। एक भी मन्त्र अर्थशून्य नहीं है शब्दात्मक होने से, अतः प्रत्येक मन्त्र के प्रत्येक शब्द के साथ विशेषकर तब जब शब्द अतिपरोक्षवृत्ति में अनवगत स्वर संस्कार हो, निरुक्त ही एकमात्र गति है और इस प्रकार यह सहज है।

रहस्य, उपनिषत्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण आदि विषय हैं, प्रतिपाद्य हैं अतः अर्थ से सम्बद्ध हैं, इस दृष्टि से अर्थरूप में ये वेद के नित्य सम्बद्ध सहज विषय हैं।

वेद यज्ञ के लिये हैं, यज्ञ कल्पसाध्य है अतः कल्प भी सहजात विषय है।

वाकोवाक्य अभिव्यक्ति की शैली है जो सहज है।

कल्प में प्रक्रिया है, इस प्रक्रिया का वैज्ञानिक विधि–विवेचन ब्राह्मण का प्रमुख कृत्य है, इसके साथ अन्य अवान्तर विषय भी वेद की ही व्याख्या है, फलतः ब्रह्म और ब्राह्मण अभिन्न हैं।

इनमें आये इतिहास, पुराण का वेदत्व स्पष्ट है तो रहस्य उपनिषदादि का वेदत्व क्यों नहीं है?

अब कतिपय विषयों का वेदत्व विषय की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये उदाहरण रूप में प्रस्तुत है।

ब्राह्मण वेद

निरुक्त परिशिष्ट — अतिस्तुत्यात्मक प्रथम परिशिष्ट में महर्षि यास्क ने यज्ञ विषयक निम्नलिखित ऋचा उद्धृत की है तथा इसकी व्याख्या की है :—

१६८ (क) **चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।**
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश।।७।।

यह मन्त्र ऋग्वेद ४.५८.३, शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता १७/९१ तथा काण्वसंहिता १९/५ में पठित है। इस महादेव वृषभ के ४ सींग, ३ पाद, २ सिर, तथा ७ हाथ हैं, यह तीन प्रकारों में बंधा हुआ है, निरन्तर ध्वनि कर रहा है, यह महान् देव यज्ञ मर्त्यों में प्रविष्ट है।

सम्बद्ध अंश की यास्क कृत व्याख्या यह है :—

(ख)**त्रिधा बद्धः त्रेधा बद्धः मन्त्रब्राह्मणकल्पैः**।७।

वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प के द्वारा तीन रूपों में बँधा हुआ है, यह यास्क के वचन का आशय है।

यास्क का आधार गोपथब्राह्मण है, जहाँ यही भाव है :—

(ग)**त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम्**। पूर्व. २/१६

त्रिप्रकार से बँधा हुआ, वे हैं १ मन्त्र, २ कल्प, ३ ब्राह्मण। यह वेद मन्त्र है जो यज्ञ को त्रिधाबद्ध कहता है, ब्राह्मण उन तीन में मन्त्र के साथ कल्प और ब्राह्मण को गिनता है जो बताता है कि मन्त्र में कल्प तथा ब्राह्मण की पूर्व सत्ता है।

माध्यन्दिन संहिता के भाष्यकार उवट इस मन्त्र का भाष्य कुछ अन्य प्रकार से करते हैं, वे त्रिधाबद्ध का अर्थ प्रातःसवन, माध्यन्दिन तथा तृतीयसवन रूप सवनों से बँधा हुआ मानते हैं। उनका यह भाष्य आंशिकरूप में शबर स्वामी के भाष्य से प्रभावित है। 'अभिधानेऽर्थवादः' (१.२.३८) मीमांसासूत्र के भाष्य में इस मन्त्र को उद्धृत करते हैं तथा प्रतिपादित करते हैं कि असदभिधान में गौण शब्द का प्रयोग है।

यहीं आचार्य कुमारिल भट्ट चत्वारि शृङ्गरूप रूपक के द्वारा यज्ञ की स्तुति मानते हैं। इनका अर्थ शबर स्वामी के अर्थ से सर्वथा भिन्न है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल 'पाम्पा वै वृत्रः' निबन्ध में इस मन्त्र का आत्मपरक अर्थ करते हैं। यह निबन्ध उनके अध्यात्मप्रधान अन्य वैदिक लेखों के साथ संग्रह रूप में 'उरु-ज्योति' में प्रकाशित हुआ है।

त्रिधाबद्ध का यह प्रसंग नारदपुराण (३२.९), श्रीमद्भागवत पुराण (८.१६.३१), स्कन्द पुराण (धर्मखण्ड २७/६५) में पद्यात्मक्र अनुवाद में है।

महाभाष्य (पस्पशा. प्रवर्तक प्ररोचक) में महर्षि पतञ्जलि इसकी शब्द परक व्याख्या करते हैं। इसे ही महावैयाकरण भर्तृहरि वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में निष्कर्षरूप से इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :—

(घ) **अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।**
प्राहुर्महान्तं वृषभं येन सायुज्यमिष्यते।।१३०।।

शब्द प्रयोक्ता की आत्मा को भी अन्तःशरीर में अवस्थित, समस्त कामनाओं के वर्षक अतः महावृषभ रूप में कल्पित शब्द को परब्रह्म कहते हैं।

भाष्यकार महीधर ने यास्क कृत, गोपथब्राह्मण मूलक अर्थ को तथा भगवान् पतञ्जलि के अर्थ को भी स्वभाष्य में लिया है। इसी भाँति ऋषि दयानन्द ने भी यास्क और पतञ्जलि के अर्थ को लिया है।

पं. मधुसूदनजी ओझा ने 'जगद्गुरुवैभवम्' में इस मन्त्र का निम्नलिखित रूप में अनुवाद किया है :—

(ङ) **शृङ्गाणि वेदाः सवनानि पादाः प्रवर्ग्यब्रह्मौदनयोः शिरस्त्वम्।**
छन्दांसि हस्ता अथ मन्त्रकल्पस्वब्राह्मणैर्बद्ध इहास्ति यज्ञः।। २.४१।

चार वेद चार सींग, तीन सवन तीन पाद, प्रवर्ग्य और ब्रह्मौदन दो सिर तथा छन्द सात हाथ हैं, ऐसा यह यज्ञ मन्त्र, कल्प तथा स्वब्राह्मण से बद्ध है।

यद्यपि ऋषि दयानन्द 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है) इस सूत्र को नहीं मानते हैं और वेदत्व मन्त्रों तक ही स्वीकार करते हैं किन्तु 'चत्वारि.' की व्याख्या वे निरुक्तकार की लेते हुए मन्त्र के साथ कल्प तथा ब्राह्मण को गिनते हुए तीनों की समानकालिक सहसत्ता मान ही रहे हैं।

यह ध्यातव्य है कि शबर, कुमारिल, महीधर आदि के अर्थ उनके समक्ष थे वे चाहते तो उनमें से किसी अर्थ को ले सकते थे जहाँ त्रिधाबद्ध में मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण नहीं हैं। ऐसा न करने का कारण क्या रहा, क्या नहीं रहा, यहाँ यह विचार्य नहीं है।

अपने अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थों की उपेक्षा करने के अथवा उनको जानबूझकर छिपाने के अभिप्राय से प्रस्तुत न करने के आरोप की मुक्ति के लिए ये अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं। ब्राह्मण सम्बन्धी प्रमाण तो अन्य भी हैं जिससे गोपथ एवं निरुक्त आदि के अर्थ की आप्तता स्पष्ट है।

अथर्ववेद का निम्नलिखित मन्त्र 'ब्राह्मण' का प्रयोग कर रहा है :—

१६९ (क) **पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।**
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव।। ७/६७/१

मुझे इन्द्रिय समूह पुनः प्राप्त हो, आत्मा, द्रविण (बल) तथा ब्राह्मण पुनः प्राप्त हो। अपने-अपने धिष्ण्य में विद्यमान अग्नियाँ भी अपने बलयुक्त अवस्थान के साथ यहीं—पूर्वावस्था में ही— समर्थ हों।

(ख) इस मन्त्र को ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में 'पुनर्जन्म विषय' में उद्धृत किया है। वे 'ब्राह्मणम्' का अर्थ संस्कृत में '**ब्रह्मनिष्ठात्वम्**' तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी भाग में '**और सदा के लिए ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्या सहित विज्ञान और आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे**' करते हैं।

सर्वविदित है कि वेद का अन्य नाम ब्रह्म है, ब्रह्म की व्याख्या ब्राह्मण है। यह अर्थ और भाव ऋषि के उपर्युल्लिखित वाक्य विन्यास से स्पष्ट हो रहा है।

(ग) श्रीसायणाचार्य ने ब्राह्मण का अर्थ 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदश्च' ही किया है।

विनियोग भेद से इसे प्रायश्चित्तादि विविधरूपों में लें, पुनर्जन्म में लें अथवा आत्मवत्ता की उपलब्धि के लिए लें, ब्राह्मण का अर्थ यही रहेगा। अथर्ववेद का ही एक मन्त्र और है :—

१७० **अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु।**
हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम्।। १८/४/१५

इस सूक्त में ८९ मन्त्र हैं। ऋषि अथर्वा तथा देवता यम है, कतिपय मन्त्रों को छोड़कर जिनमें ८१-८७ पितरः, ८८ अग्नि एवं ८९ चन्द्रमाः हैं। इसे 'पितृकल्प' सूक्त कह सकते हैं। इसका अर्थ है :— तुम्हारे इस यज्ञ का होता अग्नि, अध्वर्यु बृहस्पति, तथा ब्रह्मा इन्द्र है जो तुम्हारे दक्षिण की ओर बैठे। भलीभाँति आहुति प्रदत्त, सर्वतः सर्वथा पूर्ण सम्पन्न यह यज्ञ वही गति प्राप्त कर रहा है जहाँ पूर्वहुतों का अयन है।

त्व पद के अर्थ के उदाहरण में यास्क निरुक्त (१.७-८) में **ऋचां त्वः** (ऋक् १०.७१.११) उद्धृत करते हुए इसकी व्याख्या करते हैं। ऋत्विजों के कर्म का विनियोग बताने वाली इस ऋचा में ब्रह्मा का कार्य भी 'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्' अंश में बताया गया है। इसकी व्याख्या में वे कहते हैं :—

१७१ **ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति, ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति, ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः।**

चारों ऋत्विजों में एक ब्रह्मा प्रत्येक आवश्यकता में, जो यज्ञभ्रेषवारक = यज्ञभ्रंशतानिवारक तथा प्रायश्चित्तादि द्वारा यज्ञ पूर्ति कारक है, विद्या का उपदेश देता है क्योंकि ब्रह्मा ऋगादि सभी विद्याओं का ज्ञाता होता है अतः सर्वविध ज्ञान प्राप्त करवाने में योग्य है। ब्रह्मा इसीलिए ब्रह्मा कहलाता है कि वह श्रुत से— अर्थात् वेद, छः वेदाङ्ग, धर्म अध्यात्म, विज्ञान और स्थिति से परिवृढ = पूर्णतः बढ़ा-चढ़ा होता है।

विधि की वैज्ञानिक उपपत्ति देना ब्राह्मण का प्रथम कल्प है, अतएव ऐसे स्थलों पर ब्राह्मण वाक्य देकर यास्क 'इति विज्ञायते' कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा कह देने मात्र से इन्द्र की ब्राह्मणज्ञान-सम्पत्ति स्पष्ट है। भगवान् यास्क की इस व्याख्या में भी पक्षाघात विकल आपत्ति करके मात्र इससे ही वेद में ब्राह्मण सत्ता न मानना चाहें तो इसी वेद का एक मन्त्र और प्रस्तुत है :—

१७२ (क) **इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु।** २०/२/३

ब्राह्मण से इन्द्र ब्रह्मा है, यह वाक्य का भाव है। यहाँ ब्राह्मण ब्राह्मणग्रन्थ से भिन्न अर्थ में सम्भव नहीं है, वर्ण अर्थ लेना चाहें तो वाक्य का रूप होगा—'इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणत्वात्' इन्द्र ब्राह्मण होने से ब्रह्मा है— ऐसा इसका अर्थ होगा। ब्राह्मण से अर्थात्

ब्रह्म व्याख्या से सीधा अर्थ प्राप्त है। यदि खींचतान कर जैसे-तैसे अर्थान्तर का यत्न किया जाता है तो यह प्रत्यक्ष ही आर्षवचनों का विरोध है :—

(ख) **इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवानामुपदेशनात्।** तै. ब्रा. २.३.१.३

उपदेश देने से निश्चित ही इन्द्र देवों में श्रेष्ठ है।

(ग) **कालकाञ्ञा वा असुरा इष्टका अचिन्वत दिवमारोक्ष्यामा इति, तानिन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाण उपैत्।** मै. सं. १.६.९ (४९)

स्वर्ग प्राप्त करेंगे इस संकल्प से कालकाञ्ज असुरों ने इष्ट का चयन किया, ब्राह्मण (वेषधारी) इन्द्र उन्हें चयन विधि विषयक प्रवचन करता हुआ प्राप्त हुआ।

'ब्राह्मणं ब्रुवाणः' सीधी वाक्य योजना थी ऐसा आपाततः प्रतीत होता है, वास्तविकता यह है कि इन्द्र अपने रूप में उनके सामने नहीं आना चाहता था, ब्रुवाणः से 'सम्बन्धित विषय को बोलता हुआ' अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

इसी संहिता के निम्नलिखित दो वचन भी द्रष्टव्य हैं :—

(ध) **इन्द्रो बभूव ब्रह्मणा गभीरः** ४.१४.७.९६

इन्द्र ब्रह्म = वेदज्ञान से गभीर है।

(ङ) **सुब्रह्माणं देववन्तं महान्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्रः।**
श्रुतऋषिमुग्रमभिभातिषाहमस्मभ्यं चिरं वृषणं रयिदाः।। १०९।।

इन्द्र से कामना के वर्षक, चयनीय एवं विभिन्न गुण सम्पन्न जिस रयि के दान की प्रार्थना की गयी है उसका प्रथम सुब्रह्मा है। ब्रह्माओं में प्रशस्तब्रह्मा सुब्रह्मा है।

वेद अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण के सहअस्तित्व के ये कतिपय प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

कल्पवेद

यद्यपि ब्राह्मणवेद के इस गत प्रकरण में कल्प-वेद के साधक तथ्य आ गये हैं। ब्राह्मण का विधिभाग कल्प का ही सोपपत्तिक विवेचन है, तथापि कुछ प्रत्यक्ष निदर्शन विषय के दार्ढ्य के लिए प्रस्तुत हैं :—

१७३ (क) 'चत्वारि शृङ्गा.' (उद्धरण १६८ क) के त्रिधाबद्ध की व्याख्या में मन्त्र और ब्राह्मण के साथ कल्प भी लिया गया है। कल्प यज्ञ-प्रक्रिया की क्रमबद्ध पद्धति का अनुशासन करता है। इस मन्त्र के द्वारा कल्प के विविध रूप ही गिनाये गये हैं।

(ख) उद्धरण १७० में प्रदत्त 'ऋचां त्वः पोष.' मन्त्र भी होता आदि के कर्मों को बताता हुआ कल्प का आधार है।

(ग) उद्धरण १७० का मन्त्र 'अग्निर्होता' ब्रह्मासन के दक्षिण में होने का विधान 'ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु' भाग से कर रहा है।

(घ) भगवान् कृष्ण अर्जुन को अपने विविध नामों की निरुक्ति बताने के प्रसंग में अथर्ववेद के विषय में जो कुछ कहते हैं उससे तो यही ज्ञात होता है कि यह वेद पूरा का पूरा कल्प ही है :—

१७४ (क) **पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम्।**
कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा।। शा.प. ३४२/९९

अथर्ववेदी ब्राह्मण मुझे ही कृत्याओं—आभिचारिक प्रयोगों— से सम्पन्न पञ्चकल्पात्मक अथर्ववेद मानते हैं। यह अर्थ गीता प्रेस प्रकाशित महाभारत में है। अथर्ववेदी ब्राह्मण का अर्थ है वह ब्राह्मण जिसका वेद अथर्ववेद है, यह अथर्ववेद के ज्ञाता अर्थ का अभिप्राय है। भले ही शास्त्र और लोक में विप्र का ब्राह्मण अर्थ में प्रयोग होता हो किन्तु प्रवृत्ति निमित्त से ये भिन्नार्थक है। यदि वह ब्रह्मवित् है तो विप्र से बहुत ऊँचा है, यदि जाति ब्राह्मण है तो विप्र उससे बहुत ऊँचा है। विविध और विशिष्ट रूप से जगत् का पालन और पूरण करने की क्षमता वाला वेदज्ञ विप्र कहलाता है, अतः ब्राह्मण कहते हैं— जो विप्र है वह कवि है। पञ्चकल्पों के नाम भी गिनाने चाहिये थे किन्तु एकमात्र उपजीव्य नीलकण्ठीय भारत भावदीप में वे नाम न हों तो कैसे दिये जा सकते हैं? वायुपुराण ये नाम देता है :—

(ख) **नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः।**
चतुर्थोऽङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पश्च पञ्चमः।। ६१/५४

१ नक्षत्र कल्प, २ वैतान कल्प, ३ संहिता विधि अर्थात् कल्प, ४ अंगिरः कल्प तथा पाँचवाँ शान्ति कल्प ये अथर्ववेद में पाँच कल्प हैं।

अथर्ववेद भाष्य भूमिका में श्रीसायणाचार्य इस पद्य को उपवर्षाचार्य के कल्पसूत्राधिकरण का कहते हैं, वैसे वायुपुराण उपवर्षाचार्य के पूर्व का है। संहिताविधि कौशिकसूत्र में है।

इस दृष्टि से अथर्ववेद के कतिपय मन्त्र देखते हैं जिनमें कल्प के स्पष्ट दर्शन है :—

१७५ (क) **इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।**
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीराः अरिष्टवीरा उप सं चरेम।। ३.१२.१

वास्तु भूमि पर शाला का मापन, घृतोक्षण, सपरिवार शाला में सुख से सञ्चरण की प्रार्थना का यह मन्त्र कल्प ही है, नौ मन्त्रों के इस सूक्त की देवता शाला तथा वास्तोस्पति हैं। अन्तिम मन्त्र यथा—

(ख) **इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।**
गृहानुप प्रसीदाम्यमृतेन सहाग्निना।।९।।

वे पवित्र जल एवं अग्नि के साथ प्रवेश कल्प है।

(ग) इसी भाँति ३१ मन्त्रों का नवम काण्ड का तृतीय सूक्त भी शाला देवता का है। सभी मन्त्र इसके कल्प ही हैं।

(घ) तृतीय काण्ड का १८ वाँ सूक्त 'पतिसंवनन' है। इसमें छः मन्त्र हैं। पति को वश में करन की प्रक्रिया का माध्यम वनस्पति है अतः वही इस सूक्त की देवता है। इसका प्रथम मन्त्र है :—

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्।।१।।

(ङ)पञ्चम काण्ड का ३१ वाँ सूक्त जिसमें कुल १२ मन्त्र हैं 'कृत्याप्रतिहरण' देवता का है, ऋषि शुक्र हैं। किसी अन्य द्वारा की गयी कृत्या का इसमें निवारण है। ऐसे अनेक सूक्त और मन्त्र हैं।

(च) बारह मन्त्रों के, इसी काण्ड के २६ वें सूक्त के तथा इतने ही मन्त्रों के २७ वें सूक्त के सम्भूय अध्ययन से यज्ञिय पारिभाषिक पदों के साथ-साथ अनेक याज्ञिक क्रियाओं का नामतः परिचय मिलता है। इस साधारण नामावली तथा क्रिया के साङ्केतिक ज्ञान मात्र से यज्ञ में इनके व्यवहार का बोध कथमपि सम्भव नहीं है जब तक कल्प का पूरा यथावत् अध्ययन न हो, यहाँ तक कि मन्त्रों का पदार्थ बोध भी सम्भव नहीं है; तो क्या यह स्वीकार कर लिया जावे कि कल्प-अंग के उदय तक ये मन्त्र निरर्थक थे और न यज्ञ में विनियुक्त ही होते थे। क्या यह मानना न्याय्य होगा? विशेषकर— 'ऋचां त्व पोषमास्ते' जैसे शतशः मन्त्र हमारे सामने हैं। अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त (११.७) में अनेक यज्ञों के नाम है, यज्ञाङ्गों के नाम हैं, उदाहरण के रूप में केवल दो मन्त्र प्रस्तुत हैं :—

१७६ (क) **एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्री रुक्थ्याः।**
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया।। ११.७.१०
उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहाहिताः।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनिता पितुः।। १५।।

एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्री, प्रक्रीः, उक्थ्य तथा ओत, विद्या के साथ यज्ञ के अणु उच्छिष्ट में निहित हैं। १०। उपहव्य, विषुवान् तथा गुहाहित समस्त यज्ञ, इन सब का धारक विश्व का भर्ता, पिता का जन्म दाता उच्छिष्ट है। १५।

क्या यह शब्दानुवाद विनेयों के पल्ले पड़ेगा क्या इससे गुरु का आचार्यत्व पूर्ण हो जावेगा?

उद्धरण १७५ च में संकेतित सूक्त २६ वें के दो मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :—

(ख) **यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु।** १।
प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः। ४।

समिध् शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'समित्' पद बनता है, प्रथमा, द्वितीया के बहुवचन में 'समिधः' बनता है। पलाश आदि यज्ञिय वृक्षों की लकड़ी के प्रादेशमात्र काष्ठ खण्ड का नाम समित् है। कुछ विशिष्ट १८ काष्ठ, जिनमें १५ सामिधेनी हेतु, १ अनुयाज हेतु तथा २ आहवनीयातन दक्षिणोत्तर भागों में रोपने के लिए हैं, समिधः कहलाते हैं। मन्त्र में आया 'समिधः' सामान्य समिधाओं को बता रहा है या विशिष्ट १८ समिधाओं को। अतिशय कालान्तराल में उत्पन्न कल्पशास्त्र यह व्यवस्था देता है तो यह सोचना पड़ेगा कि हमारे पूर्व—पूर्व के पूर्वज इस शब्द से क्या ग्रहण किया करते थे, और आज के कल्पसूत्रों की यह विधि पूर्णतः मन्त्राभिप्रायानुकूल ही है अथवा थोपी हुई है? इसी के साथ 'प्रैषाः' है, साधारणतया प्रैष के २०-२१ रूप हैं — १ समित् प्रैष, २ तनूनपात् प्रैष, ३ नाराशंस प्रैष, ४ इड प्रैष, ५ बर्हि प्रैष, ६ द्वारां प्रैष, ७ उषासानक्ता प्रैष, ८ दैव्याहोतृ प्रैष, ९ तिसृणां देवीनां प्रैष, १० त्वष्टृ प्रैष, ११ वनस्पति प्रैष, १२ अधिग्रु प्रैष, १३ अधिग्रु प्रैष प्रैष, १४ स्वाहाकृति प्रैष, १५ आग्नेय आज्यभाग प्रैष, १६ सौम्याज्यभाग प्रैष, १७ वपा याज्या प्रैष, १८ पशु पुरोडाश याज्या प्रैष, १९ वनस्पति याज्या प्रैष, २० पशुस्विष्टकृत याज्या प्रैष तथा २१ एकादशानुयाज प्रैष।

मन्त्र में 'प्रैषाः' बहुवचन है कितने और कौन से प्रैष अभिप्रेत हैं यह जाने बिना मन्त्र का यथार्थ मान स्पष्ट ही नहीं होगा, लोट् मध्यम पुरुष, पदान्त घटित वाक्य, जिससे अध्वर्यु आदि, होता आदि को प्रेरित करते हैं, प्रैष है जो सामान्य रूप में यहाँ हैं। अथवा ऐसा भी नहीं है कि उस समय-कल्प के प्रादुर्भाव के पूर्व यज्ञ यागादि होते ही नहीं थे। ऐसे सैकड़ों मन्त्र हैं जिनसे लोकजीवन में यज्ञसत्ता प्रमाणित होती है, यहाँ पृथिवी सूक्त का एक मन्त्र प्रस्तुत है :—

१७७ **यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।**
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना।। १२.१.१३

जिस भूमि पर वेदि का परिग्रहण होता है, जिस पर विश्वकर्मा यज्ञ का प्रसार करते हैं, जिस पृथ्वी पर स्वरु = गोहन युक्त यूप मापे जाते हैं अर्थात् गाड़े जाते हैं, ये यूप अत्यन्त ऊँचे तथा चमकीले होते हैं जो आहुति प्रक्षेप के पूर्व ही रोपे जाते हैं। इस प्रकार वेदि, यज्ञ क्रतु और यूप आदि के माध्यम से बढ़ती हुई वह भूमि हमें वृद्धि सम्पन्न करे।

वस्तुतः वेद को समग्र दृष्टि से देखने के अभाव से यह प्रवाद फैला कि प्रथम मन्त्र प्रकट हुए, पश्चात् क्रमशः ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् तथा उसके भी परवर्ती सूत्रकाल में वेदाङ्गों का ग्रथन हुआ। पाश्चात्य विचारकों की इस भावना का भारतीयों ने अन्धानुकरण किया फलतः यह महती भ्रान्त-धारणा दृढमूल होती गयी तथा आज के इतिहास के लेखक वैदिक इतिहास को इसी क्रम में प्रस्तुत करते आ रहे हैं।

सुदूर प्राचीनकाल से यहाँ वेदादि समस्त शास्त्रों की तुल्यकालिक प्रवृत्ति की धारणा रही है। परमर्षि गौतम कहते हैं :—

१७८ (क) **मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्**। २.१.६९

इस न्यायसूत्र के भाष्य में ऋषि वात्स्यायन जिनके अपर नाम कौटिल्य, चाणक्य, विष्णुगुप्त, असहाय, अंगुल, मल्लनाग, पक्षिल आदि हैं, कहते हैं :—

(ख) **दृष्टप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद-प्रभृतीनाम्, इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति।**

वेद शब्दों के प्रामाण्य को सिद्ध करते हुए महर्षि अक्षपाद गौतम कहते हैं कि वेदमन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की भाँति शब्दों का भी प्रामाण्य है आप्तवचन होने के कारण। सूत्र के इस भाव को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि द्रष्टा और प्रवक्ताओं के समान होने से अनुमान की प्रवृत्ति है। जो आप्तजन वेदार्थों के द्रष्टा हैं वे ही आयुर्वेदादि शास्त्रों के प्रवक्ता हैं अतः आयुर्वेद की प्रामाणिकता की भाँति वेद की प्रामाणिकता का अनुमान करना चाहिये।

यहीं अपवर्ग-परीक्षा प्रकरण के सूत्र ४.१.६२ में पुनः वात्स्यायन का कथन है कि—

(ग) **द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः। य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इहिासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च इति विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्।**

यहाँ इतिहास पुराण तथा धर्मशास्त्र के अप्रामाण्य के विषय में उठायी गयी आपत्ति के निराकरण में वात्स्यायन का प्रतिपादन है कि — द्रष्टा और प्रवक्ता के समान होने से

(उन इतिहास पुराण तथा धर्मशास्त्र के) अप्रामाण्य को मानना उपपत्ति रहित है। जो मन्त्र ब्राह्मण के द्रष्टा हैं, वे ही प्रवक्ता हैं इतिहास पुराण के तथा धर्मशास्त्र के निस्सन्दिग्ध रूप में, इस प्रकार विषय व्यवस्थापन से इनका अपने-अपने विषय में प्रामाण्य है।

समग्र वाङ्मय को परस्पर एक-दूसरे से समग्र रूप से युक्त न देखने की वृत्ति ने नाना प्रकार की दुस्समाधेय असमाधेय जैसी भ्रान्तियाँ उत्पन्न की है। इस दृष्टि को छोड़ना ही होगा स्वस्थ शास्त्र-दर्शन के लिये। वेदाङ्गों का क्रम चल रहा है अतः कतिपय और वेदाङ्गों पर भी दृष्टिपात करते हैं :—

ज्योतिषवेद

ऋग्वेद के वरुणसूक्तों में प्रथम मण्डल का २५ वाँ सूक्त पाठ्य होने से अधिक प्रसिद्ध है। इसका निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है :—

१७९ **वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।**
वेदा य उपजायते।। ८।।

धृतव्रत वरुण प्रजाओं से सम्पन्न १२ मासों को जानता है, उसे भी जानता है जो इनके मध्य उपपत्ति पूर्वक तेरहवाँ पैदा हो जाता है।

मास की प्रजा पक्ष, अहोरात्र, घटी, पल, विपल तथा इनके भी छोटे भाग होते हैं। इनके सहित मास का पुनः १२ मासों का जिनकी प्रजा अयन, चातुर्मास्य ऋतु, मास, पक्ष तथा दिन संहति है, इसके पश्चात् अधिक मास का भी जो एक नियत समय पर आया करता है, वरुण ज्ञान रखता है, इस प्रकार काल के ज्ञान के कारण वह सर्वज्ञ है। धृतव्रत शब्द का अर्थ कर्मों और नियमों का धारक, इससे व्यञ्जित होता है कि वह बिना किसी अपवाद के कालचक्र का धारक और सञ्चालक भी है। इस प्रकार वह सर्वशक्तिमान् भी है। प्रायः यही व्याख्या इसकी की जाती है।

महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, श्रीशङ्कर बालकृष्ण दीक्षित एवं श्री गोरख प्रसाद चौबे ज्योतिष के इतिहास लेखकों में शीर्षस्थ एवं मानक हैं। आचार्य लोकमणि दाहाल वर्तमान इतिहास लेखक हैं। जैसा कि परम्परा है, ये (श्री सुधाकर द्विवेदी की गणकतरङ्गिणी को छोड़कर) सभी वेद से ज्योतिष का सम्बन्ध जोड़ते हुए उत्तरोत्तर अर्वाचीन शास्त्रों में यह सम्बन्ध दिखाते हैं।

(क) "भारतीयज्योतिषशास्त्रस्येतिहासः" में श्री दाहाल ज्योतिष के विकास की पाँच अवस्थाएँ बताते हैं— १. प्राग्वैदिक काल, २ वैदिक संहिता काल, ३. वेदाङ्ग काल, ४. सिद्धान्त काल तथा ५. आधुनिक काल। इन्हें क्रमशः काल, आदिकाल,

पूर्वमध्यकाल, उत्तरकाल तथा आधुनिक काल भी कहा है। प्राग्वैदिक काल हमारे लिये नितान्त अज्ञात है। वैदिक संहिताओं में ज्योतिष का स्वरूप जैसा देखने को मिलता है उसके आधार से हम अनुमान कर सकते हैं कि इसके पूर्व भी ज्योतिष का जो कुछ भी थोड़ा-सा रूप है सुनिश्चित था। यद्यपि सभी से वेदों का अपौरुषेय होने से अनादिनिधनत्व स्वीकृत किया जाता है तथापि हम यहाँ (वेदों के काल से) उनके संग्रहकाल का अभिप्राय लेते हैं। अतः वही ऋग्वैदिक काल है जब इन उपलब्ध ऋचाओं का संग्रह किया गया था, इन ऋचाओं का प्रणयन और प्रवचन काल वैदिककाल नाम से अभीष्ट नहीं है।'' (पृष्ठ ५)

यहाँ पृष्ठ १४ पर 'तथैव ऋग्वेदेऽपि उक्तम्' लिखकर यही वेद मन्त्र 'मासो.' भी उद्धृत किया गया है। यद्यपि इस मन्त्र पर यहाँ किसी प्रकार की टिप्पणी नहीं है जबकि संवत्सर के १२ मास बताने के प्रमाण में ऐसे ही अन्य मन्त्रों के साथ यह है, किन्तु सूचना यह अधिक मास की भी देता है।

यहीं वे लिखते है कि वैदिक संहिता काल में द्वादशमासात्मक सौर वर्ष प्रचलित था जिसमें ३६० दिन होते थे। वस्तुतः इसे सावन वर्ष कहना चाहिये, आगे चलकर ये स्वयं सौर में ३६५ दिन बता रहे हैं:—''मास तो उस समय चान्द्र ही था तथा उसका गणनाक्रम चन्द्र की पूर्णता के आधार से था। चान्द्र वर्ष में ३५४ दिन तथा सौर वर्ष में ३६५ दिन होते हैं। चान्द्र सौर वर्ष समीकरण के लिये ही १३ वें मास की परिकल्पना थी''। (पृ. १४-१५)

यह परिकल्पना किसकी है तत्कालीन ज्योतिर्विदों की अथवा ईश्वर की? ईश्वरीय व्यवस्था में कहीं अधिक मास अथवा क्षय मास को अवकाश नहीं है, सभी ग्रहों के अपने-अपने वर्ष भगण भोग के अनुसार हैं। अपने पञ्चाङ्ग की सिद्धि के लिये समन्वयात्मक यह कार्य ज्योतिषियों का है। अतः सिद्ध है कि यह मन्त्र उस व्यवस्था के अनुवर्तन को बताने वाला होने से अपने पूर्व विद्यमान इस ज्योतिर्विज्ञान व्यवस्था का निस्सन्दिग्ध साधक है।

न केवल इतना ही अपितु अधिक मास के दिनों की गणना भी वेद मन्त्र बताता है :—

१८० **अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो बिभर्ति।।** अथर्व. १३.३.८

जो अहोरात्रों से मापे गये तीस अङ्ग (दिन) वाले तेरहवें मास को धारण करता है।

चन्द्र का दृष्टिगत न होना अमावस्या है यह तो बिना शास्त्र के भी आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष जान लेते हैं किन्तु इसके कुहू और सिनीवाली जैसे सूक्ष्म भेद तो सूक्ष्मगणित से ही ज्ञेय हैं। इसी भाँति पूर्ण चन्द्र वाली रात्रि पूर्णिमा (पूनम) पौर्णमासी तो सब के

सामने प्रत्यक्ष है किन्तु इसके भी राका और अनुमति जैसे भेद गणित सापेक्ष हैं साथ ही पर्वनाम व्याख्या सापेक्ष।

अमावस्या अमावस्या क्यों है, जिसमें चन्द्र का अदर्शन है उसे दर्श क्यों कहा गया है इनका यथार्थ उत्तर ज्योतिर्गणित में ही है जिसके आधार पर सूर्यचन्द्र के सहवास अथवा एक घर में वास से यह अमावस्या है, सूर्यचन्द्र का योग इस तिथि पर 'गणित से देखा' जाता है, अतः इस दर्शन से यह दर्श है :—

उद्दिश्य तां त्वमावस्यां पश्यतश्च समागतौ।
अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तौ यदा तद् दर्श उच्यते।। वायु. ५६/४२

उस अमावस्या के उद्देश्य से परस्पर संगत सूर्य तथा चन्द्रमा जब एक-दूसरे को देखते हैं तो यह तिथि 'दर्श' कहलाती है।

अष्टका, एकाष्टका की पहचान, सावन, सौरमानों से सम्भव नहीं है, चान्द्रमान तथा तदनुसार मास नाम निर्धारित होने पर ही इन तिथियों को पहचाना जा सकता है एवं तत्साध्य कार्य किये जा सकते हैं।

इनका आधार ज्योतिर्गणित ही है। उसी की सम्पूर्ण पूर्वसत्ता वेद के शतशः स्थलों से ज्ञात होती है फलतः यह कहना यथार्थ है कि ज्योतिष वेद के पूर्व आज जैसी अवस्था में ही विद्यमान था।

जिन विषयों की उद्देशमात्र से यहाँ कुछ सूचना दी गयी है उनके उद्धरण संक्षेप में प्रस्तुत है :—

अथर्ववेद का ३.१० अष्टका सूक्त है इसमें १३ मन्त्र हैं। इसमें इसे प्रथमा धेनु (१), संवत्सर की पत्नी (२), संवत्सर की प्रतिमा (३) कहा गया है। ५ वें मन्त्र में एकाष्टका को सम्बोधन है, यही सम्बोधन ८ वें में है, १२ में वे एकाष्टका कर्तृपद है। १३ वें अष्टका को 'इन्द्रपुत्रे, सोमपुत्रे' कहते हुए प्रजापति की दुहिता कहा गया है। ८-१० में इसे संवत्सर, ऋतु, मास आदि का मानक बिन्दु बताया गया है।

(क) ब्राह्मणों के '**एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टका**' (ताण्ड्यम. ५/२/९) जैसे वचनों की प्रवृत्ति मन्त्र वाक्यों से ही है। यही ब्राह्मण कहता है 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' ५.९.१। श्री सायणाचार्य भाष्य में लिखते हैं — उक्तं गवामयनम् तस्य दीक्षामाह'' अर्थात् गवामयन कहने के बाद अब उसकी दीक्षा के समय को कहते हैं — 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' एकाष्टका को दीक्षा करें, एकाष्टका— माघकृष्ण अष्टमी है। प्रमाण में वे आपस्तम्ब का वचन उद्धृत करते हैं :—

(ख) माघ्याः पौर्णमास्या उपरि षडष्टकाः, तस्यामष्टमी ज्येष्ठा या सम्पद्यते तामेकाष्टकेत्याचक्षते।

माघ की पौर्णमासी के पश्चात् छः अष्टकाएँ, इनमें जो ज्येष्ठ अर्थात् प्रथम अष्टमी आती है उसे एकाष्टका कहते हैं।

पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्यकार श्रीहरिहर स्पष्ट कहते हैं कि सौर, सावन तथा नाक्षत्र मास से सम्बद्ध अष्टमी ऐसे स्थलों पर ग्राह्य नहीं है क्योंकि इनमें शुक्ल कृष्ण जैसा विभाग ही सम्भव नहीं है। वे 'प्रथमाष्टका पक्षाष्टभ्याम्' ३.३.२.४ सूत्र की व्याख्या में यह सब कुछ कह रहे हैं।

पौर्णमासी अष्टका तथा अमावस्या शब्द जिस अर्थ को व्यक्त करते हैं वह चन्द्रमास से सम्बन्धित है और यह भी स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध सौर, सावन, नाक्षत्र मासों से नहीं है, ऐसी स्थिति में चन्द्र के नक्षत्र गति सम्बन्ध से इन मासों के अन्वर्थ नाम भी होने चाहिये, वे नाम चैत्र, वैशाख आदि ही हैं। इनके प्रचलन न प्रचलन का प्रश्न नहीं है अपितु शास्त्रीय विषय प्रतिपादन में इनकी वहाँ अपेक्षा है अथवा नहीं है यह विचारणीय है। आज भी सम्पूर्ण भारत में इनका प्रचार नहीं है, इसी भांति आम व्यवहार में मधु, माधव भी नहीं है जब कि दोनों ही प्रकार के नाम ब्राह्मण, श्रौतादि सूत्रों में व्यवहृत हैं। अष्टका आदि की जहाँ व्याख्या की अपेक्षा है वहाँ सम्बद्ध रूप में दो नाम आख्यात हैं ही। अथर्ववेद में सभी नक्षत्रों पर चन्द्र की गति का स्पष्ट उल्लेख है :—

१८१ **यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ नगेषु दिक्षु।**
प्रकल्पयँश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु।। १९/८/१

द्युलोक, अन्तरिक्ष, आपः, भूमि पर जो नक्षत्र हैं, जो नगों पर तथा दिशाओं में हैं, जिन्हें (मानदण्ड) प्रकल्पित करते हुए चन्द्र उन पर जाता है— उनसे योग करता है, वे सब मेरे लिये मङ्गलमय हों। इस सूक्त में सात मन्त्र स्वस्त्ययन परक ही हैं।

(क) द्वितीय मन्त्र में नक्षत्र संख्या २८ कही गयी है — 'अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे' इसमें पूर्व सूक्त (१९/७) में ५ मन्त्रों में २८ नक्षत्रों के नाम हैं, अभिजित् भी 'अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव (४)' इनमें गिना गया है।

अथर्ववेद, ७.२० अनुमति सूक्त है छः मन्त्रों का। ७/४६ सिनीवाली तीन मन्त्रों का सूक्त, ७/४७ दो मन्त्रों का कुहू, ७/४८ भी दो मन्त्रों का राका सूक्त है। इसी भांति ७/७९ अमावस्या का ४ मन्त्रों का सूक्त तथा इतने ही मन्त्रों का ८० वाँ सूक्त पौर्णमासी का है।

भूगति, भूभ्रमण, आकर्षण शक्ति से भूमि का अन्तरिक्ष में अवस्थान आदि वेद में अनेकत्र स्पष्ट शब्दों में हैं जिन्हें परवर्ती ज्योतिषाचार्यों ने भुला दिया। आर्यभट्ट (प्रथम) के भूगति सिद्धान्त की तो उन्हीं के भाष्यकार भास्कर प्रथम ने ही आलोचना करते हुए इनकी दृष्टि को सही नहीं कहा। यदि ज्योतिष के वेद के साथ सजीव सम्बन्ध होते तो भारत अन्तरिक्ष विज्ञान तथा खगोल विज्ञान में अग्रणी होता। वेद के सहभू इस शास्त्र का पर्यवसान फलित ज्योतिष में ही न हो जाता अपितु ज्योतिषवेद मध्यन्दिनसूर्य की भांति तपता।

शिक्षावेद

वाङ्मय के दो रूप मुख्य हैं प्रथम वाचिक दूसरा आर्थिक। वाचिक रूप में ध्वनि, पद, वाक्य तथा महावाक्य समाविष्ट होते हैं। ध्वनि के लिए शिक्षा, पद के लिए व्याकरण तथा वाक्य के लिए छन्द, इस प्रकार तीन शास्त्र हैं। वेद के भी वाङ्मय रूप की यथावद् उपलब्धि के लिये इन तीनों शास्त्रों की गभीर पैठ की अनिवार्यता है, अतः इन्हें वेदाङ्ग कहा जाता है।

वेदमन्त्रों को— गुरुमुख के उच्चारण का सर्वात्मना अनुकरण कर यथावत् उसे सीखकर— कण्ठस्थ कर लेने पर विनेय को सम्पूर्ण वेद उपस्थित हो जाता है। यथार्थ धरातल पर खड़े होकर देखते हैं तो अनादिकाल से आज तक भी यथाकथञ्चित् चल रही इस शिष्योपाध्यायिका वृत्ति ने वेदों को हम तक अक्षुण्ण रूप में पहुँचाया है।

इस वेदाध्ययन के लिए शिक्षा, व्याकरण और छन्द शास्त्रों के ज्ञान की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। उसका सब कुछ उसका आचार्य है। वह जो कुछ दे रहा है पत्थर की लकीर है, वह ज्ञान की जीवनव्यापी अमिट छाप है।

इसके विपरीत आज शिक्षा आदि का विभिन्न ग्रन्थों से गम्भीर अध्ययन किया हुआ व्यक्ति वेद का एक मन्त्र भी यथावत् नहीं बोल सकता है। पदपाठ एवं विकृतियों के उच्चारण का तो प्रश्न ही कहां? सर्वत्र उदातादि स्वरों का सद्भाव होने से।

मन्त्रों को स्वर हमने नहीं दिये हैं। वे सस्वर ही मिले हैं जैसा कि गोपथब्राह्मण पूर्व. २/१० में (उद्धरण क्रमांक १६७ में) 'सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः' द्वारा कहा गया है। अर्थ की दृष्टि से स्वर में व्यत्यय मानकर चलने की विवशता भी स्पष्ट करती है कि हम स्वर बदल नहीं सकते हैं, उसी की सत्ता में अर्थानुकूल स्वर मात्र मान लेते हैं। स्वर का अर्थ से सम्बन्ध है अतः उच्चारण दोष से यदि स्वरान्यत्व हो जाता है तो यह महान् अनर्थावह हो जाता है। माध्यन्दिन और पाणिनीय श्लोकात्मिका शिक्षा में इस विषय का प्रतिपादक निम्नलिखित पद्य पढ़ा गया है जो नारदीय शिक्षा में भी है :—

१८२ **मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।**
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

स्वर से अथवा वर्ण से मिथ्या प्रयुक्त मन्त्र अपने में निहित अर्थ को नहीं कहता है वह वाग्वज्र यजमान—यज्ञकर्ता—को वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे स्वर के स्खलन से 'इन्द्रशत्रु' पद ने यजमान को नष्ट कर दिया।

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन प्रयोजन गणना में 'दुष्टः शब्दः' के प्रयोजनान्तर की व्याख्या में इस पद्य के 'मन्त्रो हीनः' के स्थान पर 'दुष्टः शब्दः' लेकर अभिमत भाव प्रकट किया है।

यहाँ सङ्केतित वृत्रविनाश-रूप घटना तैत्तिरीय संहिता २.४.१२ तथा २.५.१ में, शतपथब्राह्मण १.६.३.१०-१८ में तथा रामायण, महाभारत (शा.प. ३४२.२८) में निर्दिष्ट है। मन्त्र अथवा शब्द प्रयोग की दृष्टि से दोषपूर्ण हो तो स्पष्टतः यजमान (प्रयोक्ता) की हानि करता है यह स्पष्ट रूप में यह पद्य बता रहा है। इन्द्र के विनाश के संकल्प से कृत्या के उत्पादन में व्यापृत त्वष्टा ने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' के रूप में आहुति दी, 'इन्द्रस्य शत्रुः = शातयिता' के अर्थ की दृष्टि से। षष्ठी तत्पुरुष होने से यहाँ उत्तर पद की प्रधानता के अनुसार उदात्तता प्राप्त थी, किन्तु त्वष्टा के मुख से अन्तोदात्तता के स्थान पर आद्युदात्त 'इन्द्रशत्रु' निकल पड़ा, फलतः 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' के अनुसार 'इन्द्रः शत्रुः = शातयिता यस्य सः' इस अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। कृत्यारूप वृत्र इन्द्रनाशकशक्ति से सम्पन्न पैदा होता है तथा असाधारणरूप में बढ़ता भी है किन्तु अन्ततोगत्वा इन्द्र द्वारा शातित (नष्ट) कर दिया जाता है। स्वर भाषा की सहज अर्थ शक्ति है। वेद मन्त्रोच्चारण में पदे-पदे अतिशय सावधानी अपेक्षित है। मन्त्र भी यही कहता है :—

१८३ **तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।**
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्॥

—ऋ. १०/५३/४

वाणी के उस प्रतम = उच्चारणत्वेन अग्रग्रण्य, रूप का हम उच्चारण करें जिससे देव असुरों को पराजित कर सके। ऊर्जाद एवं यज्ञ प्रवण यज्ञार्ह पञ्चजन मेरी वाणी सुनें।

(क) 'मनः कायाग्निमाहन्ति' (मैत्रा. आर. ७/११/४ तथा पाणि. शिक्षा ७) में पठित कायाग्नि इसी ऊर्जा का नाम है अतएव वाक् आग्नेयी है। इस कायाग्नि को अनुकूल किये हुए लोग ऊर्जाद हैं।

(ख) पतञ्जलि-भाष्यस्थ 'तेऽसुरा हेलयो हेलयः इति कुर्वन्तः पराबभूवुः' ब्राह्मण वचन द्वारा बनाये हुए देवकृत असुरपराभव उपरि मन्त्र के द्वितीय चरण का उदाहरण है।

यह किसी लुप्त ब्राह्मण का वचन है, शतपथब्राह्मण में भी इसी प्रकार की घटना का वर्णन है :—

(ग) **'ते असुरा आत्तवचसो हेलवो हेलव इति वदन्तः पराबभूवुः'** ३.२.१.२३

हे अरयः = हेऽरयः वहाँ हेलयः तथा यहाँ हेलवः है, वाणी का यह अपशब्दन म्लेच्छत्व है। इससे बचने के संकल्प तथा शुद्ध उच्चारण के अभ्यास के प्रति सुदृढ-निष्ठा उपर्युद्धृत मन्त्र से प्रकट हो रही है। ऐसे संकल्प की सिद्धि शिष्योपाध्यायिका वृत्ति सापेक्ष है। शिक्षा के प्रारम्भिक अभ्यास के लिए न्यूनातिन्यून एक संवत्सर अपेक्षित है। वेद का कथन है :—

१८४ **संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।**
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषु।। —ऋ. ७/१०३/१

व्रताचरण निरत ब्रह्मसाधक अभ्यासी एक संवत्सर तक निरन्तर शिक्षा ग्रहण करते हुए शिक्षाह्रद में मज्जन किये हुए अब वे पर्जन्य घोष जैसी प्रसन्न करने वाली वाणी बोल रहे हैं।

विचारणीय है कि मण्डूक की शीतसमाधि प्रसिद्ध है किन्तु उसकी अवधि संवत्सर व्यापिनी नहीं होती है, यहाँ संवत्सर में द्वितीया, काल के अत्यन्तसंयोग में है।

पृथिव्यायतन सत्त्वों में निघण्टु 'मण्डूकाः' को तीसरे क्रम पर पढ़ता है तथा निरुक्त ९/५ में इसका भाष्य करता है। वेतस, अवक और मण्डूक का वर्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। महर्षि यास्क ने यहाँ उदाहरण में यही मन्त्र लिया है तथा मण्डूक का निर्वचन निम्ननिर्दिष्ट प्रकार से किया है :—

(क) **मण्डूकाः मज्जनात् मदतेर्वा मोदति कर्मणः, मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः। मण्डयतेरिति वैयाकरणाः। मण्ड एषामोक इति वा। मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा।** ९/५

मण्डूक मज्जन से, मोद अर्थ वाली मद धातु से, तृप्ति अर्थवाली मदि धातु से निष्पन्न होता है, वैयाकरण इसे (भूषा अर्थ वाली) मडि धातु से व्युत्पन्न करते हैं। मण्ड जिनका ओक है वे भी मण्डूक हैं, 'मण्ड' मद अथवा मुद धातु मूलक है।

इन निर्वचनों से जहां यह मेंढ़क प्राणी को बताता है वहीं ज्ञानह्रद में आस्यदध्न, उपकक्षदध्न विद्वानों को तथा जिनमें दूसरे मज्जन कर सकें ऐसे ज्ञानह्रदरूप मनीषियों को भी बताता है जो ज्ञानसम्पत्ति से सदैव पूर्ण तृप्त अतएव सदैव मुदित हैं।

—निरु. १/९ में ऋक् १०.७१.७

इसी सूक्त (७.१०३) का इस अर्थ के सन्दर्भ में एक और मन्त्र द्रष्टव्य है :—

(ख) **यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।**
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु।।५।।

जब शिक्षा लेता हुआ शिष्य शाक्त (शिक्षा में सर्वथा समर्थ) आचार्य की वाणी को बोलने लगता है तो लगता है कि इनकी वाणी का एक-एक पर्व समृद्ध है, अब कर्मतन्त्र में उनकी सुन्दर वाक् श्रवणीय है।

आज की प्रारम्भिक शालाओं में ही नहीं अपितु विश्वविद्यालयों तक के अध्ययन, अध्यापन में भी 'प्रथमकल्प' शिक्षा की भयंकर उपेक्षा ही नहीं है अपितु इसे सर्वथा त्याग ही दिया है। देखते हैं कि वर्णमाला में क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ जैसे उच्चारण दोनों शिक्षकों (शिक्षां वेत्ति, शिक्षामधीते) के नहीं हैं। आज शरीर-सरीर, शिक्षा-सिक्सा, शेष-सेस, क्षमा-छमा, दक्ष-दच्छ है जो सर्वत्र सुनने को मिलता है।

(ग) शिक्षा का पर्यायवाचक 'प्रथमकल्प' आज विद्वानों की स्मृति में भी नहीं है। पं. मधुसूदन जी ओझा की 'वर्णसमीक्षा' का अनुवाद डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी ने किया है जो 'पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ', जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर से प्रकाशित है।

इसके पृष्ठ २३ पर 'ताश्च संज्ञा प्राथमकल्पिके बालकशिक्षायामेव केवलमुपयुज्यन्ते न परस्तात्' (२२ वाँ प्रघट्टक) पाठ है, इसका अनुवाद किया गया है— 'इन संज्ञाओं का उपयोग प्रारम्भिक बाल-कक्षाओं में ही होता है आगे नहीं।

इस अनुवाद से ऐसा लगता है कि 'प्राथमकल्पिके' शब्द 'बालशिक्षायाम्' शब्द का विशेषण है लिङ्ग भेद होने पर भी। अनुवादक 'प्राथमकल्पिक' शब्द के अर्थ से अपरिचित है।

(घ) अभिधान चिन्तामणि कोष में आचार्य हेमचन्द्र का वचन है 'शैक्षः प्राथमकल्पिकः' १/७९, शैक्ष और प्राथमकल्पिक समानार्थ हैं। अपने कोष की स्वोपज्ञ टीका में वे दोनों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ देते हैं :—**शिक्षा शीलमस्य, शिक्षायां भव इति वा। प्रथमकल्प आद्यारम्भः प्रयोजनमस्य, प्रथमकल्पमधीते वा।** अर्थ स्पष्ट है कि शिक्षा—प्रथम अङ्ग— जिसका अभ्यास विषय हो, अथवा जो अभी शिक्षा में हो अर्थात् शिक्षा का अभ्यासार्थी शैक्ष, प्रथमकल्प—आद्य आरम्भ है वह जिसका प्रयोजन हो अथवा प्रथमकल्प का जो अध्ययन कर रहा हो वह प्राथमकल्पिक है। व्याकरण, निरुक्त आदि का अध्येता शैक्ष अथवा प्राथमकल्पिक नहीं हैं। यह स्पष्ट प्रतिपत्ति न होने से 'शिक्षातन्त्रे च भूयसैतया व्यवहारः' (पृष्ठ ४) का अर्थ 'शिक्षाकाल में अधिकतया इससे व्यवहार होता है' करते हुए शिक्षा का वेदाङ्गविशेष अर्थ बुद्धि में नहीं रहता है, तन्त्र का शास्त्र अर्थ भी

ध्यान में न रखकर शिक्षा का सीखना जैसा सामान्य अर्थ ले लेते हैं। अक्षरसमाम्नाय का वर्णमातृका रूप में अत्यधिक व्यवहार शिक्षा शास्त्रों में होता है, यह प्रासंगिक अर्थ है।

आज वंशपरम्परा के रूप में स्वशाखाध्ययन के उच्छिन्न प्रायः हो जाने से न शिक्षा वेदाङ्ग रहा और न मन्त्रों की स्मृति से वेद का विषयनिष्ठ गम्भीर ज्ञान ही रहा है। जब कभी वेद मन्त्र का प्रथम उच्चारण हुआ होगा उस समय शिक्षा का आधार अनिवार्यतः रहा था, भले ही 'पाणिनीयशिक्षा' आदि का आज के पठन-पाठन जैसा रूप न रहा हो। वस्तुतः इसकी आवश्यकता भी नहीं थी, आज का शिक्षा-अध्ययन धरातल शून्य है। उस समय मन्त्रोच्चारण कराते हुए कुछ आवश्यक संज्ञाओं का परिचय करा दिया करते थे जैसा कि महाभाष्य के इस उद्ध्रियमाण वचन से प्रतीत होता है :—

१८५ **एवं हि दृश्यते लोके — य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति अन्यत्वं करोषीति।** १.१.३।

हम लोक (व्यवहार) में देखते हैं कि— जो (सीखता हुआ शिष्य) उदात्त (उच्चारण अथवा हस्त संचालन) करने के स्थान पर अनुदात्त कर देता है तो खण्डिकोपाध्याय तत्काल चपेटा (= चपत) लगा देता है यह कहते हुए कि अन्य (बदला) रूपता (अर्थात् अशुद्धि) कर रहा है।

पारिभाषिक रूप में उपाध्याय वह है जो वेद के किसी एक भाग का चाहे वह मन्त्र हो अथवा ब्राह्मण हो अथवा कोई एक शाखा हो अथवा कोई वेदाङ्ग हो अथवा सभी वेदाङ्ग हो, इनका अध्यापन करवाता है। इनमें भी किसी एक खण्ड का जैसे पदपाठ हो, अष्टविकृति में कोई भी एक हो, इस रूप में अध्यापन करवाने वाला खण्डिकोपाध्याय होता है। उपाध्याय यज्ञोपवीत नहीं करवाता है।

चपत किसी बालक के ही लगायी जाती है। इससे उस समय की व्यवस्था का अनुमान लगता है कि बालक उपाध्यायों से शिक्षा का व्यावहारिक पाठ पढ़ते थे तथा इसी कारण से वेदोच्चारण एवं ध्वनियों के यथावत् उच्चारण में जीवन भर के लिये पटु हो जाते थे।

व्याकरणवेद

गोपथब्राह्मण कहता है — 'एवं इमे वेदा निर्मिताः ससंस्काराः।' वेद संस्कार सहित निर्मित हुए। वाङ्मयरूप में वेद शब्द प्रधान हैं। शब्द प्रकृति, प्रत्यय रूप संस्कार से सम्पन्न होते हैं। जहां यह संस्कार पूर्णरूपेण नहीं है ऐसा शब्दरूप वस्तुतः शब्द न होकर अपशब्द ही है। निर्विवाद चिरन्तन मान्यता है कि वेद में शब्द ही हैं अपशब्द एक

भी नहीं है। पदों का भले ही वे नाम अर्थात् सुप् प्रत्यान्त कृदन्त हों अथवा आख्यात अर्थात् तिङ् प्रत्ययान्त क्रिया पद हों, वाक्य में प्रयोग के अवसर पर उनका शुद्ध प्रयोग करने की प्रवृत्ति का आधार व्याकरण ही है भले ही शिष्टसमुदाय के मध्य सुनने एवं बोलने की चिरपरम्परा के संस्कार से प्रयोग काल में वैयाकरण नियमों के साक्षात् उपयोग की अपेक्षा न रखते हों प्रयोग व्याकरण सम्मत ही होता है। वेदवाक्यावलि में भी ये संस्कार मूलरूप में है।

इस मूल को बताने का यत्न करते हुए पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने कतिपय मन्त्रांश उद्धृत किये हैं :—

१८६ (क) **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।** ऋ १.१६४.५०

(ख) **न सहांसि सहसा सहन्ते।** ऋ ६.६६.९

(ग) **पूर्वीरश्नन्तावश्विना।** ऋ ८.५.३१

(घ) **स्तोतृभ्यो मंहते मघम्।** ऋ १.११.३

(ङ) **धान्यमसि धिनुहि देवान्।** यजु. १.२०

(च) **केतपूः केतं न पुनातु।** यजु. ११.७

(छ) **तीर्थैस्तरन्ति।** अथर्व. १८.४.८

यहाँ यज धातु से यज्ञ का सम्बन्ध स्पष्ट है जो व्युत्पत्ति भेद से यजन–साधन तथा यजनीय को बता रहा है। षह मर्षणे धातु से सहस् की निष्पत्ति 'ख' से स्पष्ट है। ये उदाहरण इतने स्पष्ट हैं कि देखते ही प्रतिपाद्य सुस्पष्ट रूप में बुद्धिगोचर हो जाता है। संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग में यह विषय विस्तार से द्रष्टव्य है।

निरुक्तकार भगवान् यास्क से पूर्ववर्ती आपिशलि, गार्ग्य, काशकृत्स्न आदि वैयाकरणों की मान्यता का बहुत कुछ ज्ञान निरुक्त में अनेकधा उद्धृत वैयाकरणों के मतों से हो जाता है। निरुक्त १३-९ का वाक्य— 'चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि—' नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः'' द्रष्टव्य है।

व्याकरण द्वारा कृत यह पद विभाजन क्या वैयाकरणों द्वारा वेद पर बलात् थोपा गया विषय है अथवा वेद के इस अधोलिखित मन्त्र के द्वारा अभिप्रेत अर्थ को बताने वाला है :—

१८७ **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।**
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।

—ऋक् १.१६४.४५

वास्तव में तो ईश्वर ही वैयाकरण है। भगवान् सनत्सुजात धृतराष्ट्र को कहते हैं :—

१८८ **सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।**
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा।। —उद्योगपर्व

इसके भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं :—

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते, न पुनः शब्दैकदेशव्याकरणाद् वैयाकरणो भवति। भवतु सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरणत्वं ततः किम् इति चेत् तत्राह— तन्मूलतो व्याकरणम् पूर्वोक्तादक्षराद्धि सर्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य व्याकरणम्। श्रूयते च—'अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति। तस्माद् ब्रह्मण एव साक्षाद् वैयाकरणत्वम्। व्याकरोतीति तत्तथा— असावपि विद्वान् तद् ब्रह्म तथैव व्याकरोतीति वैयाकरणः। २/४९

वैयाकरण वह होता है जो सभी विषयों का विश्लेषण करता है, किसी शब्द के किसी एक भाग के विश्लेषण मात्र से वैयाकरण नहीं बन पाता है। ठीक है कि सर्वार्थों के व्याकरण से (कोई) वैयाकरण होता है तो इससे क्या अभिप्राय है? यहाँ इस सम्भावित प्रश्नरूप विमति का समाधान अगला वाक्य करता है :— वह (अक्षर) ही व्याकरण का मूल है जिससे इस नामरूपात्मक निखिल प्रपञ्च का व्याकरण होता है जैसा कि श्रुतिवचन है— इस जीवरूप आत्मा से अनुप्रविष्ट हो मैं नामरूप को विश्लेषण पूर्वक प्रस्तुत करूँ। इस प्रकार साक्षात् वैयाकरणत्व तो ब्रह्म का ही है। व्याकरोतीति द्वारा शाब्दिकों का भी वैयाकरणत्व बताया गया है कि—वह विद्वान् भी उस ब्रह्म का उसी प्रकार से प्रकृति, प्रत्यय, विकरण आदि द्वारा जैसे शब्द का करता है, विश्लेषण करता है अतः वैयाकरण है।

वस्तुतः मन्त्रों के साथ एकीभाव रूप में व्याकरण सर्वत्र प्रतिष्ठित है अन्तर इतना ही है कि वेद इसके अन्वाख्यान का उद्देश्य नहीं रखता है, भगवान् ब्रह्मा ने तो अनुशासन द्वारा इसे केवल शास्त्र का रूप दिया है वही परम्परा भगवान् पाणिनि तक अक्षुण्ण रूप से चली है।

निरुक्तवेद

किसी भी शास्त्र को शास्त्र रूप में प्रस्तुत करने के लिये अपेक्षित युक्ति समुदाय को 'तन्त्रयुक्ति' कहा गया है। ये ग्रन्थ में आदि से अन्त तक वाक्ययोजन, अर्थयोजन के रूप में सर्वत्र व्याप्त रहती हैं। कतिपय सुहृद्-भूत आचार्य ग्रन्थान्त में इन तन्त्रयुक्तियों की नामपुरस्सर संख्या देकर व्याख्या भी विनेयों और अध्येताओं के लिये पृथक् अध्याय के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं जैसे दिवोदास धन्वन्तरि के शल्य-प्रवचन को संहिता का रूप देते हुए सुश्रुत ने तथा अर्थशास्त्र में विष्णुगुप्त कौटिल्य ने किया है।

महर्षि सुश्रुत उत्तरतन्त्र के ६५ वे अध्याय में कहते हैं :—

१८९ **अथातस्तन्त्रयुक्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः।। १।।**
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः।। २।।
द्वात्रिंशत् तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे।
तद्यथा अधिकरणम् १, ...ऊह्यम् ३२ इति। ३।

अब हम तन्त्रयुक्ति अध्याय की व्याख्या करेंगे।। १।। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है। २। वे इस प्रकार है इतना कहकर वे अधिकरण से प्रारम्भ कर ऊह्य तक के ३२ नाम क्रमशः तृतीय सूत्र में गिनाते हैं। अब चतुर्थ सूत्र में इनका प्रयोजन बताते हैं :—

(क) **अत्रासां तन्त्रयुक्तीनां किं प्रयोजनम्?**
उच्यते वाक्ययोजनमर्थयोजनं च। ४।

इस—सुश्रुतसंहिता ग्रन्थ— में इन तन्त्र युक्तियों का क्या प्रयोजन है? बता रहे हैं:—वाक्ययोजन तथा अर्थयोजन। तीन पद्यों (५, ६, ७) में 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' कहते हुए वाक्यार्थ योजन का स्वरूप बताने के पश्चात् एक-एक तन्त्र युक्ति की लक्षणोदाहरण से व्याख्या करते हैं। इनमें 'निर्वचन' भी २७ वें क्रम पर है जिसके विषय में कहते हैं:—

(ख) **निश्चितं वचनं निर्वचनम् यथा— आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वा आयुर्विन्दति इति आयुर्वेदः। ३५।**

पूर्वापर पक्षादि वादों से रहित सर्वसम्मत निश्चित वचन निर्वचन है। जैसे आयु जिसमें विद्यमान है तथा आयु जिससे प्राप्त होती है वह आयुर्वेद है।

महामनीषी चाणक्यापरनामा पक्षिलस्वामी भी अपने अर्थशास्त्र के १५ वें अधिकरण को 'तन्त्रयुक्ति' नाम देते हुए प्रथम अध्याय में कहते हैं :—

(ग) अर्थशास्त्रं द्वात्रिंशद्युक्तियुक्तम्— अधिकरणम्...... ऊह्यमिति। यहाँ भी निर्वचन गणित है। व्याख्या में वे कहते हैं :—

(घ) गुणतः शब्दनिष्पतिर्निर्वचनम्— व्यस्यति एनं श्रेयसः इति व्यसनम्।

गुण से अर्थात् अर्थान्वययुक्तता से शब्द की निष्पत्ति निर्वचन है जैसे व्यसन, जो राजा को श्रेयोमार्ग से भ्रष्ट कर दे वह व्यसन है।

इस प्रकार तन्त्र की अर्थात् शास्त्र की युक्ति होने से सर्वत्र व्यवहार्य है, वेदाङ्गता तो इनके ज्ञानाङ्ग होने के रूप में है, वेदैकनिष्ठता में नहीं।

ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषयों में भी निर्वचन एक है। मीमांसासूत्र २.१.३३— 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' के भाष्य में शबर वृत्तिकार के शिष्यहितार्थ किये प्रपञ्च में निर्वचन को भी 'निर्वचनं तद्दध्नो दधित्वम्' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मण लक्षण की प्रायिकता को

बताते हुए भाष्यकार 'हेतुर्निर्वचनं निन्दा.' आदि दो पद्य भी प्रस्तुत करते हैं। ये पद्य वायुपुराण के ५९ अध्याय में किञ्चित् पाठ भेद से मिलते हैं। पुराण ने प्रत्येक का लक्षण भी दिया है। ब्रह्माण्ड पुराण अनुषङ्गपाद अध्याय ३३ में भी वायु पुराण का संवादी पाठ है।

एक अथवा एकाधिक मातृका कोषों से प्रगाढ निष्ठा तथा अनुपम श्रम से जिन मनीषियों ने सम्पादन कर प्रथमवार सर्वसाधारण को पुराण सुलभ करवाये वे परम वन्दनीय हैं किन्तु शोचनीय है वर्तमान पीढ़ी के सम्पादक जिनके द्वारा तनिक भी सम्पादन कष्ट नहीं उठाया गया है, जहां पाठशुद्धि तो दूर सामान्य से सामान्य पाठ—भ्रंश भी ठीक नहीं किया गया है, कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि पूर्व प्रकाशन को और भी भ्रष्ट कर दिया है। इस स्थल के पद्य ऐसे ही दोषों से दूषित हैं। दोनों ही पुराणों ने निर्वचन के विषय में कहा है :—

(ङ) **'तथा निर्वचनं ब्रूयाद् वाक्यस्यार्थावधारणम्'**

निर्वचन इस रूप में कहें कि वाक्य का सुनिश्चित अर्थ प्राप्त हो।

इन सभी वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्वचन भाषा के साथ सम्बद्ध उसका एक विशेष गुण है। यद्यपि आज व्यवहार में निरुक्त शब्द व्यापक रूप से प्रचलित है तथापि इस अर्थ में निर्वचन भी शास्त्रों में प्रयुक्त होता रहा है। निर्वचन की व्याप्ति निरुक्त की ही व्याप्ति है। गोपथब्राह्मण का यही अभिप्राय रहा है वहाँ कहा गया है :—

'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सनिरुक्ताः'

वेद मन्त्रों में निर्वचन अथवा निरुक्त है :—

१९० (क)**यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।**
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठ न।। अथर्व. ३/१३/२

वरुण से प्रेषित आप सभी शीघ्र ही एकीभाव से प्लुत गति को प्राप्त हो गई, जाती हुई आपको इन्द्र ने व्याप्ति दी इसलिए आप 'आपः' हो।

व्याप्त्यर्थक स्वादिगणीय आप्लृ धातु के भूतकाल का रूप 'आप्नोत्' है इससे 'अप्' शब्द का निर्वचन हुआ है, अप् के प्रथमा बहुवचन का रूप 'आपः' है। आप्ति अथवा व्याप्ति दी जाने से **आपः आपः** हैं।

(ख)**अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।**
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम्।। ३।।

यदृच्छया बहते हुए आपको इन्द्र ने शक्तियों के साथ वरण किया फलतः आपको 'वार्' नाम दिया गया।

वृ धातु से वार् का निर्वचन यहाँ बताया गया है, धातु का अर्थ वरण करना है, वरण विभाजन, आच्छादन तथा प्रियरूप में अनेक में एक का चयन है।

(ग) **एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।**
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते।। ४।।

स्वेच्छा से बहते हुए तुम्हें एकाकी देव इन्द्र ने अपना अधिष्ठान बनाया तथा महत्ता ख्यापित करते हुए उत्कर्ष पर प्रतिष्ठित किया अतः आप 'उदक' कही जाती हैं।

यह मन्त्र मैत्रायणी संहिता (२.१३.१०) तथा तैत्तिरीय संहिता (५.१.६.८) में भी है। यहाँ उत्+आ+णीञ् प्रापणे से निर्वचन किया गया है। अतएव व्याकरण में भगवान् पाणिनि ने क्वुन् प्रत्ययाधिकार में 'उदकम्' औणादिक सूत्र पढ़कर प्रकृति की स्वतन्त्रता दे दी है। अतः विद्वानों ने आ उपसर्ग पूर्वक खनु विदारणे, उन्दी क्लेदने तथा अञ्चु गतिपूजनयोः धातु से इस पद की निष्पत्ति की है।

इसी आथर्वण सूक्त (३.१३) के प्रथम मन्त्र से सोदाहरण निर्वचन की प्रक्रिया भी अनुशासित कर दी गयी है :—

(घ) **यददः संप्रयतीरहावनदता हते।**
तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः।। १।।

अहि अर्थात् मेघ के हनन करने पर अन्तरिक्ष में तीव्रगति से चलती हुई आपः प्रचुर शब्द करने लगी, इस नद (शब्द) के कारण आपः का नाम 'नदी' हुआ, हे सिन्धुओं! ऐसी ही विभिन्न प्रक्रियाओं से वे सभी तुम्हारे नाम हुए।

पुराण से वेद का उपबृंहण कैसे होता है इसका सुन्दर उदाहरण हरिवंशपुराण (महाभारतीय परिशिष्ट पर्व) में किया गया निम्नलिखित नदी प्रवचन है :—

१९१ **अभिषिच्य च भूतेशं कृत्वा कर्म स्वभावतः।**
नदति स्म तदा नादं तेन सा ह्युच्यते नदी।। —भविष्यप. १७/२४

भूतपति भगवान् महेश्वर का उनके भूताधिपत्यप्राप्ति के अवसर पर अभिषेक कर स्वभावात्मक यह कर्म कर आह्लादातिशय से, सोमोत्पन्न वह जलधारा नाद कर रही थी, इससे ही वह 'नदी' कही जाती है।

यह भाव नदी के कलकल रूप वाले शब्द तक सीमित न रहकर उसकी दिव्यता को बताता है। सोम का संघातात्मक अवश्याय रूप ही 'अहि' है। वाय्वावेष्टितसूर्य किरण रूप इन्द्र से पिघलकर वह धारारूप को प्राप्त कर सम्-एक दिशात्मक, प्र-प्रकृष्ट गति प्राप्त कर लेता है जो उसका स्वभाव है। इस स्वभाव से वह महेश्वर के अभिषेकरूप में भूतों का प्राणप्रद होता है, प्रसन्नता के अतिरेक से उत्पन्न यह नदन = नाद ही उसका

यथार्थ स्वरूप है, नदी शब्द का यही भाव है। इसके ही विषय में परवर्ती पद्य भी द्रष्टव्य है :—

(क) **सा ब्रह्मलोकं सम्भाव्य अभिभूय सहस्रधा।**
गां गता गगनाद् देवी सप्तधा प्रससार च।। २५।।

वह देवी नदी ब्रह्मलोक को पूजकर तथा सहस्रभागों में विभक्त होकर गगन से गो अर्थात् भूमि को प्राप्त हुई तथा सात रूपों में फैली।

यास्क गङ्गा का निर्वचन 'गमनात्' करते हैं। (निरुक्त ९.२६)। 'गां गता' से यह गमन वास्तविक अभिप्राय को व्यक्त करता है। निरुक्त के तथा पुराण के इस निर्वचन से नदी मात्र 'गङ्गा' है। नदी का प्रथम रूप 'नदत्व' तथा द्वितीय रूप 'गङ्गात्व' है। स्मरण रहे नद स्तोता अथवा ऋषि अर्थ भी रखता है। निघण्टु ३/१६ में स्तोता के १३ नामों में चतुर्थ नाम 'नद' है, निरुक्त ५/२ में वचन है कि— 'ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुति कर्मणः' स्तुति अर्थ वाले नद धातु से निष्पन्न नद का अर्थ ऋषि है, यह इस वचन का भाव है। पुराण के इन पद्यों का अर्थ वाणी (= सरस्वती) भी है।

व्याकरण की पूर्ति भी निरुक्त करता है अपने मूल प्रयोजन की सिद्धि के साथ-साथ। अर्थादेश व्याकरण का कार्य नहीं है, यह निरुक्त का क्षेत्र है। व्याकरण में स्वतन्त्रीय प्रकृति-प्रत्यय के विकरण के उपदेश का अक्षरशः अनुवर्तन तथा सूत्र अनिवार्य है। निरुक्त का केवल एक ही आधार है— अर्थनित्यता तदनुसार किसी भी रूप में प्रकृति प्रत्ययादि अंशों का ऊहन कर अर्थप्राप्ति करना निरुक्त का कार्य है। ऊपर वेद के अनुसार 'उदक' का निर्वचन दिया है। इस हरिवंशपुराण के भविष्य पर्व का ही यह भी निर्वचन देखने योग्य है :—

(ग) **यान्यधः पद्मपत्राणि भूरीण्यूर्ध्वं नराधिप!।**
ते दुर्गमाः शैलचिताः म्लेच्छदेशा विकल्पिताः।। १२/११
तेषामधोगतं यत्तदुदकेत्यभिसंज्ञितम्।
महापातककर्माणो मज्जन्ते यत्र मानवाः।। १२

हे राजन्! भगवान् नारायण की नाभि से उद्भूत कमल के ऊपर-नीचे बहुत बड़ी संख्या में जो पत्र (पत्ते) थे, उनमें ऊपर वाले पत्ते दुर्गम पर्वत तथा अनेक म्लेच्छ देश थे। जो नीचे के पत्र थे उनके तले का स्थान 'उदक' कहा गया। उग्रपाप करने वाले मानव जिसमें डूबते हैं।

यहाँ उत्+अक रूप में पद विभाग है। अक का एक अर्थ पाप तथा दूसरा अर्थ दुःख है। उत्कृष्टानि अकानि पापानि दुःखानि च यत्र तत् उदकम्— के रूप में निर्वचन होगा जो प्रासङ्गिक अर्थ के अनुकूल है।

अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत, अधियज्ञ, अधिलोक आदि विभिन्न अधिकरणों में पठित वेदमन्त्रों के एकाधिक विषयों में प्राप्य अर्थों के लिए प्रवृत्ति निमित्त भेद से निर्वचन भिन्नता अनिवार्य है, अत: स्पष्ट है कि उनका आधार निरुक्त मन्त्र का सहजन्मा है।

छन्दोवेद

वेदमन्त्र छन्दोबद्ध हैं। यदि ये केवल छन्दोबद्ध होते तो इनमें हम छन्दों के पार्थक्य तथा उनके बाहुल्य पर गम्भीर प्रयत्न कर अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप इनका विभाजन कर इन्हें गायत्री आदि नाम देते तथा पूर्वजों के इस दाय से मन्त्रों को देखते। अतिप्रत्न सुदृढ परम्परा के आधार यह एक सर्वमान्य अनुशासन हो जाता तथा यह प्रवाद भी सत्य प्रमाणित हो जाता है कि वेदाङ्गों की प्रवृत्ति वेदों के चिरकाल पश्चात् हुई, किन्तु वस्तुत: ऐसा है नहीं। मन्त्रों में छन्दों के स्पष्ट लक्षण जैसे उल्लेख मिलते हैं।

अथर्ववेद का एक मन्त्र उत्तरोत्तर चार अक्षरों की वृद्धि वाले सप्तच्छन्द बता रहा है साथ ही कह रहा है कि वे एक-दूसरे में अर्पित भी हैं :—

१९२ **सप्तच्छन्दांसि चतुरुत्तराणि अन्यो अन्यस्मिन्नध्यर्पितानि।।** ८/९/१०

इसके विपरीत ऋग्वेद का एक मन्त्र बता रहा है कि कौन ऐसा गम्भीर विद्वान् है जो छन्दों के योग को जानता है और बताता है :—

(क) **कश्छन्दसां योगमावेद धीरः।** १०.११४.६

उत्तरोत्तर चार वर्णों की वृद्धि लौकिक छन्दों में नियत रूप से है जहाँ पद्य निश्चितरूप से चतुष्पद होता है, अतएव गाथा आदि में छ: पाद होने से उनके नाम भी एतदर्थक हैं। वैदिक छन्दों में मा, प्रमा आदि छन्दोजातियों में एकाक्षर वृद्धि होती है, अत: यदि एक पदा ऋक् है तो एकाक्षर की वृद्धि, द्विपाद मन्त्र है तो दो अक्षरों की तथा त्रिपात् है तो तीन अक्षरों की वृद्धि होगी, अत: चतुरुत्तराणि पद की सार्थकता अनपवादरूप से लौकिक छन्दों को लेकर ही है। छन्दों की संख्या को देखें तो यह करोड़ों-अरबों तक है, इन सभी के योग को यथार्थत: जानना तथा सभी को योग अर्थात् सूत्र के द्वारा बता पाना असम्भव- प्राय: है।

यदि शाब्दिक छन्दों को इस रूप में देखें तो यथाकथञ्चित् शास्त्रकार उत्सर्गापवादरूप में लक्षण-प्रवृत्ति में व्यापृत हो भी सकते हैं तथा हुए भी हैं। अब तक ग्रथित छन्द:शास्त्रीय सहस्रों ग्रन्थ यहाँ निदर्शन हैं किन्तु आर्थिक छन्दों की इयत्ता निर्धारित कर पाना तथा लक्षण द्वारा इनका यथार्थ स्वरूप बता पाना तो किसी भी रूप

में सम्भव है ही नहीं। सम्पूर्ण विश्व वाक् का विवर्त अथवा परिणाम है। विश्व का एक-एक 'परमाणु' तथा 'महतो महान्' छन्दोबद्ध है इस अनन्त विश्व के छन्दों की अनन्तता का योग अथवा योगारम्भ असम्भव ही है यह मनीषियों से अविदित नहीं है। श्रीमद्भागवत में कथन यही बता रहा है :—

१९३ (i) (क) **छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति।** २.१.३१

सहस्रशीर्षा अर्थात् अनन्त शिरस्क पुरुष का शिर अमेय अनन्त है, छन्द ही वे शिर हैं। इसकी ही व्याख्या मानो भागवतीय निम्नलिखित पद्य है :—

(ख) **यस्य छन्दोमयो ब्रह्मदेह आवपनं विभो।** १०.८०.४५
श्रेयसाम्।

सुदामा कृष्ण को कहते हैं — विभो! जिसका छन्दोमय ब्रह्मदेह समस्त श्रेयों का आवपन है। आवपन बीजभूमि भी है सन्दूक भी, छन्दोमय ब्रह्म जिसका देह है, अथवा जो छन्दोमय है ब्रह्मदेह है तथा श्रेय आवपन है। किसी भी रूप में हों छन्द-आर्थिक छन्द-अनन्त हैं। श्रीमद्भागवत के ये वचन वेद के भावों को ही व्यक्त करते हैं—

१९३ (ii) (क) **प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि।** ऐत. ब्रा. २/१८

ये जो छन्द हैं प्रजापति के अङ्ग हैं। जब प्रजापति स्वयं ही छन्द है तो छन्द उसके अवयव होंगे ही—

(ख) **प्रजापतिरेवच्छन्दोऽभवत्।** —शत.ब्रा. ८/२/३/९

प्रजापति ही छन्द बना। ब्राह्मणों के एवंविध प्रवचन मन्त्र वेद के आधार पर ही हैं :—

(ग) **इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।**
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति।।

व्याकरण दर्शन के महान् आचार्य भर्तृहरि द्वारा यह मन्त्र 'ऋग्वर्णः खल्वपि' कहते हुए :—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एवं प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।। १२०।।

कारिका के समर्थन में उद्धृत किया गया है। इसका अर्थ है :—

सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर से प्रथम छन्दरूप अन्न प्रकट हुआ। इस छन्द से नाम और रूप ये दो विषूचियां उत्पन्न हुई। नाम जो छन्द का रूप है प्राण से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक छन्द ही नाना विभूतियों में प्रकाशित हो रहा है।

विविधरूपों में प्रकाशमान उस छन्द के ये सभी विविधरूप छन्द ही होंगे साधारण गणना के रूप में यजुर्वेद माध्य.शाखा की निम्नलिखित कण्डिका द्रष्टव्य है :—

१९४ **पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाछन्दोऽश्वश्छन्दः।**

एक-एक नाम को पृथक्-पृथक् गिनकर प्रत्येक के साथ छन्द शब्द लगाकर पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, समा, नक्षत्र, वाक्, मन, कृषि, हिरण्य = उष्ट्र, गौ, अजा तथा अश्व को छन्द कहा गया है। निश्चित ही ये वर्ण गणना वाले वाचिक छन्द नहीं हैं। ये आर्थिक छन्द हैं। सुप्रसिद्ध गायत्री आदि छन्द वाचिक भी हैं आर्थिक भी हैं। निम्नलिखित कण्डिका देखिये :—

१९५ **वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय, रुद्रास्त्वां कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसांगिरस्वद् ध्रुवासि अन्तरिक्षमसि.......**

आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि ...... विश्वेत्वा देवा वैश्वानरा कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि ......। ११.५८

इस कण्डिका का विनियोग उखा निर्माण में तलहटी बनाने के लिए मिट्टी को हाथभर लम्बाई में फैलाने में है। उखा को सम्बोधित करते हुए ऋत्विक् कह रहा है :—

हे उखे! तुम्हें वसु गायत्र छन्द से अंगिराओं की भाँति बनावें, तुम ध्रुवा हो पृथ्वी हो, मुझ यजमान में प्रजा रायस्पोष, गोपतित्व, सुवीर्य और सजातों = भाइयों को धारण कराओ।

रुद्र तुम्हें त्रिष्टुप् छन्द से अंगिराओं की भांति बनावें, तुम ध्रुवा हो, अन्तरिक्ष हो। (शेष पूर्ववत् पूरा करना है)

आदित्य तुम्हें जागत छन्द से अंगिराओं की भांति बनावें तुम ध्रुवा हो, द्यौ हो। ......

विश्वदेव वैश्वानर तुम्हें अनुष्टुप् छन्द से अंगिराओं की भांति बनावें, तुम ध्रुवा हो, दिशायें हो..........।

क्या वसु यहाँ गायत्री छन्द, रुद्र त्रिष्टुप् छन्द, आदित्य जगती छन्द तथा विश्वेदेव अनुष्टुप् छन्द बोलते हुए यह निर्माण कार्य करेंगे अथवा गायत्री आदि यहाँ निर्माण के साधनों का कोई रूप है? वेद में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु माने गये हैं जैसा कि शतपथ ब्राह्मण का वचन है :—

१९६ **अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्याश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः एते हीदं सर्वं वासयन्ते ते यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति।** ११.६.३.६

यह जो सब कुछ है उसे ये बसाते हैं, चूंकि वे इस सब को बसाते हैं अतः वसु हैं। क्या इन वसुओं का गायत्री छन्द अक्षर गणना विशेष वाचिक छन्द हो सकता है? यही रुद्र आदित्य विश्वेदेवों के साथ विचारणीय है। क्या वर्तमान छन्दोग्रन्थ इस समस्या का समाधान दे सकते हैं?

इसी यजुर्वेद संहिता में छन्दों की एक सुविस्तृत सूची १५वें अध्याय में है जो नाम प्रायः छन्दोविचितियों में नहीं पढ़े गये हैं और जब पढ़े ही नहीं गये हैं तो लक्षणादि का तो प्रश्न ही कहाँ है? दो काण्डिकाओं में उल्लिखित नाम यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

१९७ **एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दः आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दः त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दो अङ्कुपं छन्दोऽक्षरं पङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्दः।** ४।

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्दो विविधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः संस्तुपृछन्दोऽनुष्टुपृछन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्दः। ५।

एव छन्द है, वरिव छन्द है आदि इनका अर्थ स्पष्ट है। शत. ब्रा का प्रवचन है 'अयं वै लोक एवश्छन्दः' (८/५/२/३) यह (पृथ्वी) लोक एव छन्द है। वाचिक छन्दों में एव जैसा छन्द नहीं है, ये आर्थिक अथवा तत्त्वरूप छन्द हैं।

वेद में ऋषि देवता का ज्ञान वेदार्थ में उपयोगी है इनके साथ छन्द भी रखे गये हैं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है यहाँ निदर्शनार्थ आर्षेय ब्राह्मण का वाक्य उद्धृत है :—

१९८ **यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वा ऋच्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। अथ यो मन्त्रे मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति। अयातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्।** १.१.६

जिस मन्त्र का ऋषि सम्बन्धी परिज्ञान नहीं है और न जिसके छन्द, देवता और ब्राह्मण का ज्ञान ही है, ऐसे मन्त्र से यजन कराने वाला अथवा अध्यापन कराने वाला

याजक और आचार्य ठूँठ हो जाता है, गर्त में गिरता है, मृत्यु को प्राप्त करता है तथा महापापी होता है। इसका वेदाध्ययन निर्वीर्य होता है। इसके विपरीत जो प्रत्येक मन्त्र के आर्षेय, छन्द, देवता और ब्राह्मण को जानता है, पूर्ण आयु भोगता है श्रेयः सम्पन्न होता है। इसके वेदों का स्वाध्याय कभी अयातयाम नहीं होता है। अतः ऋष्यादि प्रत्येक मन्त्र के जानने चाहिये।

इस परम्परा का उद्देश्य है छन्दोज्ञान को जीवित रखना तथा वाचिक छन्दों से ऊपर उठकर आर्थिक छन्दों तक पहुँचना जहाँ तक छन्दों से वेदार्थ का प्रश्न है, आजतक किसी ने इस आधार पर मन्त्रों का अर्थ किया नहीं है। वेद भाष्य करने वाले आचार्य इस तथ्य का अनुभव रखते हैं जैसा कि ऋग्भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने स्पष्टतः स्वीकार किया है :—

तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते, न छन्दः अनुपयुज्यमानत्वात्।

अपने इस भाष्य में मैं मन्त्र के ऋषि और देवता का उल्लेख करूंगा क्योंकि अर्थावबोधन में उनका उपयोग होता है, अनुपयोगी होने से छन्द का उल्लेख नहीं करूंगा।

स्कन्दस्वामी का यह कथन अनुपयुक्त नहीं है वाचिक छन्दों की अर्थ में उपयोगिता न होने से। वेद के उभयविध छन्दों की स्पष्ट प्रतिपत्ति वेदज्ञ विद्वानों को होती तो ये प्रवाद न उठते कि वेद में ७ छन्द हैं अथवा चौदह छन्द हैं, तीन छन्द हैं अथवा सात छन्द हैं। वेद भाष्यकार आचार्य वेंकटमाधव ने अपनी छन्दोऽनुक्रमणी के प्रथम अध्याय में इन विविध मतों का उल्लेख कर तथा स्वयं की दृष्टि से साधारण चौदह छन्द वेद में (ऋग्वेद में) मानकर आगे कहा है :—

१९९ **ननु च त्रीणि छन्दांसि चत्वारीति च दृश्यते।**
आहुः प्रवादौ भाक्तौ तौ सप्तत्वं चैव तादृशम्।।५।।

इसकी हिन्दी व्याख्या श्री विजयपाल जी विद्यावारिधि इस प्रकार करते हैं :— शङ्का है 'तीन छन्द हैं' और 'चार छन्द हैं' ये दो मत भी देखे जाते हैं? समाधान है — विद्वान् लोग इन दोनों प्रवादों को गौण कहते हैं और इसी प्रकार सात छन्द होने का कथन भी गौण है।

तीन छन्दों का कथन प्रकारान्तर से वेद मन्त्र भी कर रहा है। क्या यह भी भाक्त है :—

२०० **त्रीणि छन्दांसि कवयो वियेतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।**
आपो वाता ओषधयः तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि।।

—अथर्व. १८.१.१७

यहाँ आपः, वात, औषधियों को तीन छन्द कहकर इन्हें एक भुवन में अर्पित कहा गया है। भुवन देह है व्यष्टि भी समष्टि भी। इस मन्त्र का स्पष्ट भाव विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझाजी ने आवरणवाद के निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट किया है :—

(क) **अन्नं जलं वायुरिति त्रिधापिच्छन्दांसि देहे क्वचिदर्पितानि।**
शरीरयात्रौपयिकानि तेषां विशेषतश्छन्दितमस्ति वृत्तम्।। ३१।।

अन्न जल और वायु ये तीन प्रकार के शरीर-यात्रोपयोगी छन्द सभी देहों में समानरूप से अर्पित हैं। इनका विशेष रूप से छन्दन ही वृत्त है।

जैसे वर्णों का विशेषरूप में छन्दन वृत्त कहलाता है वैसे ही इन अन्नादि का विशेष छन्दन वृत्त है। वृत्त के अनेक अर्थों में छन्द, चरित्र और वृत्ति प्रमुख हैं जब यह नपुंसक लिङ्ग में हो। ये छन्द ही वृत्ति-जीवन की बाड़ तथा जीवन धारक वार्ता —है। इस प्रकार ये जीवन के आवरक धारक सञ्चालक तो हैं हीं साधनाविशेष से सिद्ध हो उत्तम संस्कार और व्रत के रूप में जीवन के उन्नायक वृत्त (आचरण) का रूप भी ले लेते हैं।

वस्तुतः जो अर्थ वाचिक छन्द का है वही अर्थ आर्थिक छन्द का भी है तुल्य प्रवृत्ति निमित्त से। श्री ओझाजी ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'छन्दःसमीक्षा' में दोनों प्रकार के छन्दों का सुस्पष्ट स्वरूप इदम्प्रथमतया बताया है जो इस ग्रन्थ के छन्दस्तत्त्वाद प्रकरण में ९८ से १२७ तक ३० पृष्ठों में प्रतिपादित हुआ है। इसी आथर्वण मन्त्र का भी इस प्रसंग में स्पष्टीकरण हुआ है पृष्ठ १२३-१२४ में उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :—

(ख) **यथा हि गायत्र्युष्णिगनुष्टुबादयो विष्टारपंक्तिसतोबृहती—ककुबादयश्च वाचिकच्छन्दोविशेषा उपदिश्यन्ते, एवमेव सन्ति मा—प्रमा—प्रतिमादयः एवोवरिवशम्भ्वादयश्च आर्थिकच्छन्दोविशेषास्तत्तदर्थव्यवस्थापका इत्यत्रैव छन्दोभाषा-तात्पर्यावगमात्। तत्र च सिद्धं परिच्छेदलक्षणं छन्दस्त्वमिति नार्थान्तरत्वप्रसक्तिः।**

यत्पुनराथर्वणेऽबादीनां त्रयाणां छन्दस्त्वमुपदिश्यते तस्यायमाशयो यद्— इदमनेकरूपं विश्वशब्देनाख्यातं किञ्चिद् दृश्यते तदेतत् त्रेधा व्यवच्छिद्य गृह्यते— आपश्च वाताश्च औषधयश्चेति। एतदेवान्यत्र तिस्र एव देवास्तेजोऽबन्नानीत्येवं देवताप्रकरणेनाम्नातम्।

भवन्ति हि निबिडावयवास्तरलावयवा विरलावयवाश्च पदार्थभेदालोके। न चैतत् त्रैविध्यापचारेण किञ्चिदिहोपलभ्यते।

तत्र निबिडावयवा अन्नौषधिमृदादिशब्दैः, तरलावयवा अप्शब्देन, विरलावयवास्तु तेजोवाय्वादिशब्दैः व्यपदिश्यन्ते ओषध्याद्यब्वातादीनां स्वानुगतभावोपलक्षकत्वात्। त्रयोऽप्येते भावा एकस्मिन्नर्थे प्रत्यर्पिता द्रष्टव्याः। सर्वस्याप्यर्थ-जातस्य मृदवस्थया अबवस्थया तेजोऽवस्थया च निमित्तानुरोधेन विपरिणमनात्। एतेष्वेव त्रिषु भावेषु विश्वमेतत् प्रतिष्ठितम् इत्यतः सिद्धमेषां प्रतिष्ठालक्षणं छन्दस्त्वमिति नार्थान्तरत्वप्रसक्तिः।

इसका आशय है कि — यह सब कुछ जिसे विश्व कहा जाता है, दिखाई देता है कुल तीन भागों में विभक्त है जिन्हें, औषधि, आपः और वात कहा जाता है। विश्व के सभी पदार्थ सघनावयव, तरलावयव और विरलावयव होते हैं। इनमें सघन अवयव वाले पदार्थ अन्न, औषधि, मिट्टी आदि शब्दों से, तरलावयव पदार्थ अप् शब्द से तथा विरलावयव पदार्थ तेजः, वायु आदि शब्दों से कहे जाते हैं। ये तीनों भाव प्रत्येक पदार्थ में प्रत्यर्पित समझने चाहिये क्योंकि सभी पदार्थ मृदवस्था, अबवस्था और तेजोऽवस्था से ही स्वस्वनिमित्त के अनुरोध से परिणाम को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इन तीनों में विश्व प्रतिष्ठित है अतः इन तीनों का प्रतिष्ठालक्षण छन्दस्त्व स्पष्ट है।

शतपथादि ब्राह्मणों में गायत्र्यादि के वाचिक एवं आर्थिक रूप से छन्दस्त्व की व्याख्या की गयी है, केवल वाचिक छन्दोविषय होने से छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में वाचिकरूप ही बताया गया है। कृत्स्नता वेद में है जिससे ब्राह्मणादि ने तथा छन्दो विचितिकारों ने स्वविषयक व्याख्या की है अतः वेद को छन्दोवेद कहना और मानना सर्वथा उपयुक्त है।

गाथावेद

गोपथ ब्राह्मण में जिन्हें कण्ठतः वेद कहा है उन सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरेवद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद के वेदत्व की व्याख्या की गयी। इसी ब्राह्मण ने कल्प, रहस्य आदि के साथ वेद का निर्माण स्पष्ट शब्दों में कहा तदनुसार ब्राह्मणवेद तथा शिक्षादिवेदाङ्गवेदों की प्रस्तुति के अनन्तर अब गाथावेद के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत है।

आप्ताशिरोमणि देवकीनन्दन भगवान् कृष्ण ने जिनकी यशस्विता की गाथा गाई है तथा जिन्हें निरुक्त विद्या का जो चिरकाल से नष्ट हो चुकी उद्धारक बताया है उन ऋषि यास्क के वचन को अश्रद्धेय मानने का कोई हेतु नहीं है। यास्क जैसा कि पूर्व में (१६४ उद्धरण) बताया गया है, गाथा को वेद मानते हैं प्रथम यास्क की आप्तता के महाभारतीय दो पद्य उद्धृत हैं :—

२०१ **यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।**
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्।। शा.प. ३४२/७२
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्।। ७३।।

श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को कहा जा रहा है कि अव्यग्र ऋषि यास्क ने अनेक यज्ञों में मेरी स्तुति गाई है, उनके द्वारा प्रयुक्त इस शिपिविष्ट गुह्यनाम को मैं इसी कारण धारण कर रहा हूँ। उदारबुद्धि यास्क ने शिपिविष्ट नाम से मेरी स्तुति कर मेरे अनुग्रह से निरुक्त प्राप्त किया जो चिरपूर्व विनष्ट हो गया था। कृष्णार्जुन के इस संवाद को वेदमहोदधि नारायणांश वेदव्यास कृष्णद्वैपायन पूरी तरह महाभारत में ग्रथित करते हैं, यह भी आप्तत्वमूलक ही है। ऐसे यास्क जब कहते हैं :—

२०२ **'तत्र ब्रह्म ऋङ्मिश्रमितिहासमिश्रं गाथामिश्रं भवति'**

तो गाथा के वेदत्व स्वीकार में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये, विशेषकर निरुक्त के दोनों प्राचीन व्याख्याकार भगवद्दुर्ग (स्कन्दस्वामी से पूर्ववर्ती) तथा ऋग्भाष्यकार स्कन्दस्वामी (विक्रम पूर्व प्रथमशतक में) सोदाहरण गाथा का वेदत्व बताते हैं। इस प्रकार यहाँ व्याख्या में विप्रतिपत्ति भी नहीं है।

आचार्य दुर्ग का लेख :—

(क) **तस्मिन सूक्ते ब्रह्म इतिहासमिश्रम्— इतिहासयुक्तम् इत्यर्थः। .... स पुनरितिहास ऋग्बद्धो गाथाबद्धश्च। ऋक्प्रकार एव कश्चिद् गाथा इत्युच्यते। गाथाः शंशति, नाराशंसीः शंसति इति ह्युक्तं गाथानां कुर्वीत इति।।**

उस सूक्त में ब्रह्म (वेद, मन्त्र) इतिहास मिश्र अर्थात् इतिहास युक्त होता है यह अर्थ है, और वह इतिहास ऋचा से ग्रथित एवं गाथा से ग्रथित होता है। ऋचा का ही कोई विशेष प्रकार गाथा कहा जाता है। अनेकत्र (ऋचा का कथन करते हुए व्यक्ति के लिए) कहा गया है गाथा कहता है, नाराशंसी कहता है ऐसा ही दूसरा वाक्य है — गाथाओं का शंसन करें।

मन्त्र का अर्थ 'इतिहास' है जिसमें मन्त्र की प्रवृत्ति है। इतिहास की अभिव्यक्ति सामान्यरूप से ऋचा से भी हो सकती है अथवा गाथा से भी जो ऋचा का ही शैलीगत प्रकार विशेष है यह आशय आचार्य दुर्ग का है।

स्कन्दस्वामी लिखते हैं :—

(ख) **पुरावृत्तमितिहासस्तेन मिश्रम् ऋङ्मिश्रम्—ऋक्शब्देन सामान्यशब्देनापि सामर्थ्यात् परिदेवनार्था ऋच इहोच्यन्ते गाथामिश्रम्— अरुणो मासकृद् वृकः पथायन्तं ददर्श हि। उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी विन्तं मे अस्य रोदसी। ऋक्, १.१०५.१८ इत्यादिभिः, गायन्ति स्तुवन्ति याभिः ता गाथाः—केवला स्तुत्यर्था ऋचः— ताभिः मिश्रम्। चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी। १.१०५.१ इत्यादिभिः, तन्मनाक् स्तुतिं प्रदर्शयामः, निरुक्ते प्रदर्शितत्वाच्च।**

इतिहास पुरावृत्त है अर्थात् पुराकाल में घटित घटना, उससे मिश्रित। ऋङ्मिश्र— यहाँ बिना किसी विशेष पद के योग के कहे गये ऋक् शब्द से सामर्थ्य से परिदेवना भावों वाली ऋचाएँ अभिप्रेत हैं।

गाथामिश्र— 'अरुणो मास.' आदि इस प्रकार की केवल स्तुत्यर्थक ऋचाएँ गाथा हैं, निरुक्तिलभ्य अर्थ यही है—गाते हैं, अर्थात् स्तुति करते हैं जिनसे वे गाथा इनसे मिश्रित, जैसे '**चन्द्रमा**', '**अप्सु**', '**अन्तरा**' आदि। इससे हमने थोड़ा-सा निदर्शनात्मक स्तुति का स्वरूप रखा है क्योंकि निरुक्त (पूरे) में स्तुतियाँ प्रदर्शित हैं।

स्कन्दस्वामी इतिहास की अभिव्यक्ति का माध्यम ऋचाओं और गाथाओं को नहीं मानते हैं ये स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म को त्रिधा—ऋचाओं, इतिहास और गाथाओं से— युक्त मानते है किन्तु वेद ही गाथा है यहाँ कोई मतभेद नहीं है, इस प्रकार गाथा को वेद से बाहर मानना, केवल ब्राह्मण आदि में देखना उचित नहीं है यह इससे स्पष्ट है।

भगवान् यास्क से अतिपुरातन ऋषि महीदास ऐतरेय हैं। इनके प्रवचन 'ऐतरेय ब्राह्मण' के ३३वें अध्याय में जो छः खण्डों में विभक्त है अतिविस्तृतरूप में शौनःशेप आख्यान है। इसकी समाप्ति पर ऋषि कहते हैं :—

(ग) 'तदेतत्परऋक्शतगाथं शौनशेपमाख्यानम्' (षष्ठ खण्ड)।

सो यह सौ से अधिक ऋचाओं गाथाओं वाला शुनःशेप आख्यान है। श्रीसायणाचार्य इस पूर्ण गणना का विवरण देते हैं। तदनुसार इसमें शुनःशेप दृष्ट ऋचाएँ ९७, अन्यदृष्ट ३, इस प्रकार १०० ऋचाओं वाला तथा ३१ गाथाओं वाला यह आख्यान है। यहाँ शुनःशेप का ऋग्दर्शन तथा उसका प्रजापति से अश्विनीद्वय तक के देवों से, विश्वामित्र से तथा अपने पिता सौयवसि अजीगर्त से वार्तालाप साथ-साथ चलता है जो इनके समकालीन

होने का प्रमाण है। ब्राह्मण इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को आख्यान कहते हुए व्यञ्जित करते हैं कि उन्हें यह प्राप्त हुआ है, इसका स्रोत कोई लुप्तसंहिता ही हो सकती है।

इसी भाँति ऐतरेय आरण्यक का वचन है :—

२०३ **ऋग्गाथाकुम्ब्या तन्मितम्, यजुर्निगदो वृथावाक् तदमितम् सामाथो यः कश्च गेष्णः स स्वरः।**

महदुक्थ जो वेद रूप वाणी का परम विकार है मित, अमित, स्वर, सत्य और अनृतरूप में पाँच रूपों का है। इनमें ऋक्, गाथा और कुम्ब्या मित है, यजुः, निगद और वृथावाक् अमित है तथा साम एवं जो कुछ भी गेष्ण (गेय) है स्वर है। इस प्रकार गाथा का वेदत्व बताया गया है सुस्पष्टरूप में। सामान्यतः यह भी कहा जा सकता है कि मन्त्रब्राह्मण को वेद मानने वालों के ही इस प्रकार के विचार और वचन हो सकते हैं। केवल मन्त्रों को वेद मानने पर इन गाथा आदि का वेदत्व सिद्ध नहीं होता है। इस दृष्टि को लेकर चलने वालों के लिए पुनः व्रात्यकाण्ड के मन्त्र उद्धृत हैं :—

२०४ **स उदीचीं दिशमनुव्यचलत्।** १५.६.१०
तमितिहाश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचन्। ११
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां प्रियं धाम भवति य एवं वेद।। १२

उद्धरण '७२ ख' में इस मन्त्रत्रयी का अर्थ दिया जा चुका है। मन्त्र वेद में पठित गाथा शब्द जिस किसी भी रूप अथवा भाव को व्यक्त कर रहा है वह अर्थ वेदगत है, मन्त्र में सिद्ध रूप में है, उसे वेद के बाहर देखना अनुचित है तथा ब्राह्मणादि में नियमित करना तो और भी अनुचिततर है।

वेद के ऋक् यजुः साम अथर्व, मन्त्रस्तोम स्तोम आदि शब्द जैसे वाङ्मय के रूप विशेष है वैसे ही ये तत्त्ववेद के रूप हैं जैसा कि पुराण के विषय में स्वयम् आथर्वण मन्त्र कह रहा है :—

२०५ **एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनु संविदुः।** १०.७.२६

स्कम्भ-जगदाधार परमात्मा के एक अङ्ग को पुराण कहते हैं। इसी प्रकार वशा और गाथा का सम्बन्ध है।

२०६ **आस्नस्ते गाथा अभवन् उष्णिहाभ्यो बलं वशे।**
पाजस्याज्जज्ञे यज्ञः स्तनेभ्यो रश्मयस्तव।।

—अथर्व १०/१०/२०

हे वशे! उष्णिक् से बल, पाजस्य से यज्ञ तथा स्तनों से रश्मियाँ उत्पन्न हुईं। क्या ऐसी गाथा कोई अनित्य वस्तु हो सकती है।

गाथा का कोई एक ही अर्थ हो यह अनिवार्य नहीं हैं।

'वर्णसमीक्षा' ग्रन्थ में वाचिक गाथा को लेकर समीक्षा चक्रवर्ती पं. मधुसूदन जी ओझा प्रतिपादित करते हैं :—

(क) ऋग् गाथा साम इत्येते त्रयो वेदभाषाशब्दाः क्रमेण पद्य-गद्य —गेयार्था द्रष्टव्याः। यत्त्वनिर्णीतमूलवक्तृकं चिरात्राय प्रसिद्धं जनश्रुतिसारं वाक्यं गाथेत्याहुस्तदस्यार्थान्तरं ज्ञेयम्। एवं मात्रा छन्दसोऽपि गाथा संज्ञा क्रियते तदप्यर्थान्तरं स्यादिति दिक्। पृष्ठ ९१

ऋक् गाथा साम ये तीन शब्द वेद भाषा के हैं जो क्रमशः पद्य, गद्य तथा गेय अर्थ देते हैं। जिसके मूल का निर्णय नहीं हैं जो चिरकाल से प्रसिद्ध है जनश्रुति ही जिसका सार (बल) है, ऐसा जो वाक्य गाथा कहा जाता है वह इस (गाथा) शब्द का भिन्न अर्थ है ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार मात्रा छन्द का नाम भी गाथा है वह भी भिन्नार्थक है।

इसी प्रकार उन्होंने 'पुराणोत्पत्ति प्रसङ्ग' ग्रन्थ में गाथा का उस प्रकरण से सम्बद्ध अर्थ दिया है:—

(ख) अनिर्धारितवक्तृका परम्पराश्रुता इतिवृत्तविषया गिरो गाथाः (पृष्ठ २)

अनिर्धारित वक्ता वाली परम्परा से सुनी गयी इतिवृत्त विषयक वाणी गाथा है।

उद्धरण 'क' ऐतरेयाण्यक के 'अमित' को दुर्ग के भाव इतिहास की गाथारूप की अभिव्यक्ति को प्रकट कर रहा है, 'ख' में भी गाथा का इतिहास से ही सम्बन्ध बताया गया है।

यहाँ अनिर्णीतवक्तृकता जैसा कथन प्रायिक है, पुराणों में गाथाकारों के प्रायः नाम दिये गये हैं, वेद में भी ऐसा है।

पूर्व (२०६) उद्धृत मन्त्र के जैसा ही एक दूसरा मन्त्र है, सूर्यासावित्री ऋषि तथा सूर्याविवाह इसका देवता है :—

२०७ **रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।**
सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृतम्।। ऋ. १०/८५/६

यहाँ रैभी नाराशंसी तथा गाथा को क्रमशः अनुदेयी न्योचनी तथा वस्त्र परिष्कारकर्त्री बताया गया है। यह मन्त्र अथर्ववेद १४.१.७ में भी पढ़ा गया है।

अथर्ववेद के बीसवें काण्ड के १२७ से १३७ तक के सूक्त नाराशंसी आदि अनेक नाम वाले मन्त्र पढ़ते हैं। इनके विषय में गोपथ ब्राह्मण कहता है :—

(क) **अथ कुन्तापं शंसति— तस्य चतुर्दश प्रथमा भवन्ति— इदं जना उपश्रुत इति।**
—उत्तर भाग ६/१२

अब कुन्ताप का शंसन करता है—उसकी प्रारम्भिक १४ ऋचायें हैं जिनमें प्रथम—इदं जना उपश्रुत. है। उप नो न रमति १४वीं ऋचा है।

इस कुन्ताप में प्रथम ३ ऋचा—नाराशंसी, ४-६ ऋचायें रैभी, ७-१० पारिक्षिती, ११-१४ कारव्या हैं।

(ख) **अथ रैभीः शंसति, अथ पारिक्षितीः शंसति, अथ कारव्याः शंसति, जनकल्या उत्तराः शंसति, अथ इन्द्रगाथाः शंसति, अथैतशप्रलापं शंसति आदि।**

आश्वलायन गृह्यसूत्र में स्वाध्याय विषयों को निम्नलिखित रूप में गिनाया गया है:—

२०८ **अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसः ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः इतिहासपुराणानि इति।** ३.३.१

इसकी नारायण कृत वृत्ति में गाथा के अर्थ को सोदाहरण बताया गया है—

गाथा नाम ऋग्विशेषा इन्द्रगाथादयः 'यदिन्द्रो दाशराज्ञे' इति इन्द्रगाथाः पञ्चर्चः।

'इन्द्रगाथा' जैसे प्रकार वाली विशिष्ट ऋचाएँ गाथा है, उदाहरण में इन्द्रगाथा—जिसमें पाँच ऋचाएँ हैं— के 'यदिन्द्रोदाश' मन्त्र का प्रतीक है।

इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं अंग्रेजी में अनुवादक डॉ. नरेन्द्रनाथ शर्मा टीका के 'यदिन्द्रो' प्रतीक को शुद्धरूप में प्रस्तुत नहीं कर सके न सन्दर्भ बता सके। यह अथर्ववेद २०/१२८ की १२-१६ क्रम की पांच ऋचाओं में प्रथम है 'यदिन्द्रादोदाशराज्ञे मानुषं' है, यदिन्द्रोदाशराज्ञे नहीं।

इस प्रकार केवल गाथा अथवा नाराशंसी ही नहीं रैभी आदि अन्य भी अनेक नाम हैं जो मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों के आधार पर अभिहित किये गये हैं।

गोपथ का यह विषय कौषीतकि तथा ऐतरेय ब्राह्मण में भी है :—

(क) **अथैतत् कुन्तापं यथाछन्दसं शंसति सर्वेषामेव कामानामाप्त्यै (१) नाराशंसीः (२) रैभीः (३) कारव्याः (४) इन्द्रगाथाः (५) भूतेच्छदः (६) पारिक्षितीः (७) ऐतश-प्रलापमिति।** ३०/५

(ख) **कुन्तापनामकं त्रिंशदृचं सूक्तं विधायैतशप्रलापनामकं सप्ततिसंख्याकं पदसमूहं विधत्ते—ऐतशप्रलापं शंसति इति।** —ऐत. ब्रा. ३०/७

क. कौषीतकि का वचन है— इसमें कहा गया है—अब यह छन्दोऽनुसार कुन्ताप सूक्त का शंसन करता है सभी कामनाओं की पूर्ति के लिए तदनन्तर नाराशंसी ऋचाओं से

लेकर पारिक्षिती ऋचाओं तक के ये विभिन्न नाम तथा ऐतशप्रलाप सूक्त नाम निर्देशपूर्वक बताये गये हैं।

ख. भाग में ऐतरेय के ३० वें अध्याय के सप्तम खण्ड का प्रथम वाक्य सायणीयभाष्य की अवतरणिका के साथ उद्धृत है। सायण कहते हैं कि तीस ऋचाओं वाले कुन्ताप नाम के सूक्त का विधान कर अब सत्तर (७०) पद समूह वाले ऐतश प्रलाप का विधान 'ऐतश प्रलापं शंसति' वाक्य से प्रारम्भ किया जा रहा है। १० खण्डों में विभक्त इस तीसवें अध्याय में पूरा विषय यथावत् गोपथ ब्राह्मण जैसा ही है।

नाम ब्राह्मणों ने दिये हैं, प्रयोग की दृष्टि से यह उचित भी है किन्तु इससे यह अभिप्राय कैसे लिया जावे कि ये वेद ही हैं ऐसी विपरीत आशङ्का नहीं होनी चाहिये जब वेदमन्त्रों में इन नामों को पूर्व में दिखाया जा चुका है 'गाथया परिष्कृत' में जिस गाथा से परिष्करण क्रिया बतायी गई है क्या मन्त्र में उसकी विद्यमानता नहीं है? गाथा नाम किसी मन्त्रारम्भ का पद प्रतीक जैसा भी नहीं है जैसा 'कद्वती' अथवा 'ईशावास्योपनिषत्' में 'ईशावास्य' शब्द है।

तैत्तिरीयसंहिता में अश्वमेधाङ्ग अन्नहोम मन्त्रों की एक ग्यारहवीं कण्डिका है इसमें ५० मन्त्र हैं, सम्बद्ध ४२-५० मन्त्र यहाँ उद्धृत हैं :—

२०९ **ऋग्भ्यः स्वाहा (४२) यजुर्भ्यः स्वाहा (४३) सामभ्यः स्वाहा (४४) अङ्गिरोभ्यः स्वाहा (४५) वेदेभ्यः स्वाहा (४६) गाथाभ्यः स्वाहा (४७) नाराशंसीभ्यः स्वाहा (४८) रैभीभ्यः स्वाहा (४९) सर्वस्मै स्वाहा (५०)** ७.५.११

यहाँ गाथा, नाराशंसी, रैभी को आहुति दी जा रही है ऋगादि का पृथक् नाम ले लेकर। चारों वेदों के मन्त्रों को ये आहुतियाँ हैं, इसके पश्चात् पुनः वेदेभ्यः कहना अर्थनिष्ठ पुराण इतिहास उपनिषत् आदि के लिए है। इसके पश्चात् गाथा नाराशंसी रैभी नाम तत्तद्विषयनिष्ठ ऋचाओं के लिए हैं अन्त में सर्वस्मै = सबके लिए, शेष सभी अनन्तवेदों के लिए हैं। यहाँ गाथा आदि तीन नाम ही लिए गए हैं जो यह बताते है कि ऋचा होते हुए भी ये केवल ऋचा न होकर कुछ विशेष हैं, यहीं इनका ऋगादि वेदों के तुल्य महत्त्व का सूचक है। इनका पृथक् अस्तित्व है तभी तो वेद इन्हें आहुति दे रहा है इससे भिन्न और क्या अभिप्राय हो सकता है।

ये ही वे विभिन्न अनेक उद्धरण हैं जो मानने को विवश करते हैं कि इन चार वेदों में ही अनन्तवेद हैं। यही कारण है कि पण्डितवर्य युधिष्ठर जी मीमांसक को स्वसम्पादित आचार्यवररुचि के ग्रन्थ (संवत् प्रवर्तक विक्रम के समकाल) की द्वितीयावृत्ति की भूमिका में लिखना पड़ा कि :—

२१० **यत्तु यास्केन 'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति' (४/६) इत्युक्तं तत्रापि इतिहासवर्णनया भाषाशैल्या निबद्धो मन्त्र इतिहासपदेनाभिप्रेतः, एवम् ऋक्शब्देन पद्यमात्रनिबद्धो मन्त्रः, गाथाशब्देन स्तुतिवर्णनया भाषाशैल्या युक्तो मन्त्रः। वस्तुतस्तु वैदिकवाङ्मये मन्त्रप्रकरणे ऋक्—यजुः-साम—ब्राह्मण—इतिहास—गाथा—कल्प—नाराशंसी—इत्यादिपदैः तत्तद्विभिन्नया भाषाशैल्या निबद्धा मन्त्रा एव गृह्यन्ते, ब्राह्मणप्रकरणे च ब्राह्मणवचनानि इति वैदिकानां राद्धान्तः। इमं प्राचीनं सिद्धान्तमनवबुद्ध्वैव पाश्चात्या अस्मद्देशीयाश्च विद्वांसो बहुधा अतथ्यं मतं कल्पयन्ति।** (पृ. ६)

यास्क ने जो 'तत्र ब्रह्म.' कहा है वहाँ भी इतिहास वर्णन वाली भाषाशैली में निबद्ध मन्त्र इतिहास पद का अभिप्राय है, इस प्रकार ऋक् शब्द से सभी प्रकार के छन्दों वाले पद्यमात्र में ग्रथित पद्य, गाथा शब्द से स्तुतिवर्णन वाली भाषाशैली से युक्त मन्त्र अभिप्रेत है। वास्तविकता तो यह है कि वैदिक वाङ्मय में मन्त्र प्रकरण में ऋक्, यजुः, साम, ब्राह्मण, इतिहास, गाथा, कल्प और नाराशंसी इत्यादि पदों से विभिन्नरूपों वाली उस उस भाषाशैली से निबद्ध मन्त्रों का ही ग्रहण होता है, ब्राह्मण प्रकरण में उन शब्दों से ब्राह्मण वचनों का, यह वैदिकों का सिद्धान्त है। इस प्राचीन सिद्धान्त को न जानकर ही पाश्चात्य और स्वदेशीय विद्वान् अधिकतर तथ्यहीन मतों की ही कल्पना करते हैं।

इतिहास के साथ पुराण का नित्यसाहचर्य सा है तथापि पूज्य पण्डितजी ने उसका उल्लेख नहीं किया, अस्तु। गाथाएँ मन्त्रवेद में भी हैं तथा ब्राह्मणवेद में भी यह इससे स्पष्ट है।

पुराण के वेदत्व को प्रकाश में लाने के लिए कतिपय प्राचीन वचनों की व्याख्या के क्रम में विषय की स्पष्टता के लिए कतिपय वेदों का स्वरूप यहाँ बताने का यत्न किया गया है, वेद के समस्त भेदों का प्रतिपादन इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है अतः अब 'उपनिषद्वेद' का संक्षेप में निरूपण कर इस प्रकरण खण्ड को यहीं पूरा करना है।

उपनिषद् वेद

यद्यपि उपनिषत् के वेदत्व के विषय में कुछ कहने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है जहाँ उपनिषच्छिरोमणि 'ईशावास्योपनिषत्' सर्वजगत् प्रसिद्ध है तथा इसी से उपनिषत् गणना का आरम्भ होता है। यह उपनिषत् शुक्ल यजुर्वेद काण्व शाखा का ४० वां अध्याय है, जैसा कि शाखाओं का स्वरूप है प्रवचन भेद से इनके पाठों में थोड़ा सा

अन्तर है। शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता का ४० वां अध्याय भी उपनिषत् नाम से उसी भाँति प्रसिद्ध है।

जब मूलसंहिता के पाठ में एक वर्ण के भी व्यत्यय बिना उसे उपनिषत् नाम से पृथक् कर लिया जाता है तथा उस पर महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रवचनात्मक ब्राह्मण का भाग 'बृहदारण्यकोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है। इसके सुदीर्घकाल पश्चात् आचार्य आद्यशंकर से लेकर आज तक विदेश में सैकड़ों भाष्य विभिन्न भाषाओं में हैं। प्रमुख उपनिषदों में ईशावास्य तथा बृहदारण्यक.. दोनों ही अविगीत परम्परा से गिने जाते हैं तथा प्रस्थानत्रयी के रूप में सभी आचार्यवर्यों से व्याख्यात हैं।

बृहदारण्यकोपनिषत् को ब्राह्मण माना जाए, आरण्यक माना जाए अथवा उपनिषत् माना जाए। शतपथ ब्राह्मण का यह एक भाग है, इसके पृथक् कृत इस भाग में आरण्यक और उपनिषत् दोनों नाम हैं। ब्रह्म की व्याख्या होने से ब्राह्मण है, विषय विशेष के प्रतिपादन से आरण्यक भी है, उपनिषत् भी है। ब्रह्म के दोनों अर्थ सृष्टि का मूल उसका कर्ता, धर्ता तथा संहर्ता एवं दूसरा अर्थ इस ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला वाङ्मय रूप वेद ब्राह्मण को अभीष्ट हैं तथा व्याख्यात हैं। उपनिषद् उस जगदाधार रूप को लेकर चलता है। आरण्यक सृष्टि के माध्यम से सृष्टि के कर्ता की उपासना के विविधरूप प्रस्तुत करता है। यज्ञ यागादि के सोपपत्ति विधि स्वरूप की प्रस्तुति ब्राह्मण नाम से पारिशेष्य न्याय के अनुसार प्रसिद्ध है। फलतः प्रत्यक्ष है कि उपनिषद् भी मूलतः मन्त्र में ही है।

प्रतिपाद्य अर्थ को लेकर ही नामों की प्रवृत्ति व्यवहार सौकर्य के लिये है। महर्षि यास्क के कथन से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

निघण्टु २/२२ में पठित 'इन' के निर्वचन में प्रवृत्त महामति यास्क ने उदाहरण के रूप में अस्यवामीय सूक्त के निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत किया है :—

२११ **यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।**
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः समाधीरः पाकमत्राविवेश।।

—ऋक् १.१६४.२१

इसकी अधिदैवत अर्थ में जो निरुक्त का प्रमुख प्रतिपाद्य है— व्याख्या कर उपसंहार वाक्य में 'इत्युपनिषद्वर्णो भवति, इत्यधिदैवतम्' कहते हैं। पश्चाद् "अथाध्यात्मम्" द्वारा व्याख्या कर अन्त में कहते हैं 'इत्यात्मगतिमाचष्टे' (निरुक्त ३.१२.१)

वृत्तिकार आचार्य दुर्ग लिखते हैं :—

(क) **'उपनिषद्भावेन वर्ण्यते इति उपनिषद्वर्णः'** उपनिषद् भाव से जो वर्णन किया जाता है वह है उपनिषद् वर्ण। मन्त्र में उपनिषद् भाव है यह यास्क के कथन एवं मन्त्र के अर्थ से स्पष्ट है।

दुर्गाचार्य के परवर्ती आचार्य स्कन्दस्वामी भी इसे 'रहस्यविद्या का वर्णन करने वाला मन्त्र' ही कहते हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि तथा पं. भगवद्दत्त क्रमशः 'निरुक्तसम्मर्शः' तथा 'निरुक्तशास्त्रम्' में यास्क के कथन का यही अर्थ करते हैं।

यह सूक्त अथर्ववेद की शौनक शाखा में ९.९.१-२२ तथा ९.१०.१-२८ रूप में दो भागों में पढ़ा गया है। इसी भाँति पैप्लादसंहिता में १६.६६.१-१०, १६.६७.१-१२ तथा १६.६८.१० में तीन खण्डों में ३२ मन्त्रों में ही पढ़ा गया है। सम्पूर्ण सूक्त अध्यात्म है, इसकी आत्मानन्द ने अपने भाष्य में इसी रूप में व्याख्या की है।

जब उपनिषत् का वेदत्व मध्याह्न के सूर्य की भाँति दैदीप्यमान है तथापि भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने कहीं प्रकट तथा कहीं मौन उपनिषत् की वेद की अपेक्षा श्रेष्ठता स्वीकार की है तथा माना है कि जो गुह्यातिगुह्य रहस्य वेद में नहीं है वह वेदान्त में है। सम्भवतः इसी धारणा से वेदान्त का एक यह अर्थ भी प्रचलित हो गया है कि उपनिषत् वह है जहाँ वेदों का अन्त हो जाता है। उदाहरण में ईशावास्य को रखते हैं जो यजुर्वेद की माध्यान्दिनी और काण्व संहिता का अन्तिम अध्याय है। यदि ऐसा ही है तो क्या एक मात्र यजुर्वेद ही वेद है अन्य वेद नहीं? यजुर्वेद की भी इन दो शाखाओं से भिन्न ९९ शाखाओं के विषय में क्या कहेंगे जहाँ अन्तिम अध्याय ऐसा उपनिषत् नहीं है। ऋग्वेद के अन्त में न आने से क्या अस्यवामीय सूक्त उपनिषत् नहीं है जिसके मन्त्र अनेकत्र अनेकधा उपनिषद् रूप में उद्धृत हैं।

वस्तुतः वेद का निचोड़ सर्वत्र आत्मदर्शन, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन है, इस अर्थ में अन्त शब्द है। यास्क के अनुसार भी इस अर्थ में औचित्य है।

अज्ञान की निन्दा तथा ज्ञान की प्रशंसा में यास्क दो ऋचाएं—उत त्वः पश्यन् १०.७१.४ तथा उतत्वं सख्ये स्थिर पीतम् १०.७१.५ उद्धृत करते हैं तथा इसकी व्याख्या करत हैं। दूसरी ऋचा के उत्तरार्ध—'अधेन्वाचरितमाययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्' के अफलामपुष्पाम् भाग की व्याख्या में कहते हैं :—

२१२ **अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवति इति वा, किञ्चित् पुण्यफला वा इति।**
अर्थं वाचः पुष्पफलमाह— याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा।

—निरुक्त १.२०

माया प्रधान दृष्टि वाले के लिये वेदवाक् तथा समस्तजीवन व्यवहारों को लें तो नीतिपरक वाक् फल और पुष्प रहित अथवा न्यूनातिन्यून फल और पुष्प युक्त होती है। मन्त्र अर्थ को पुष्पफल बता रहा है। पुष्प फल क्रमशः यज्ञ और देवताविषयकज्ञान, अथवा दैवतज्ञान तथा अध्यात्मानुभूति।

यज्ञ के लिये दैवतज्ञान अनिवार्य है तथा दैवतज्ञान की परिणति अध्यात्म में है। साधक न्यूनातिन्यून एक चरण-यज्ञ-देवता का पूरा करे ही; संकल्प और क्षमता हो तो पूर्णतया दोनों चरण करे जिसमें देवज्ञान की आत्मोपलब्धि में पूर्णता है। महाभा. अनुशासन पर्व का कथन है :—

२१३ **ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः।**
नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान्न पश्यति।। ३५/४१

जब तक अध्यात्म को प्राप्त नहीं होते हैं तब तक इन देवों को ज्योति, आकाश, आदित्य, वायु, इन्द्र और प्रजापति हैं यथावत् नहीं जान पाते हैं।

सर्वानुक्रमणिका तथा बृहद्देवता ऋग्वेद के सूक्तों में उपनिषत् बताते हैं। यथा :—

२१४ **उदुत्यं जातवेदसम्** (१.५०) सूक्त की अन्तिम तीन ऋचाएँ '**उद्यन्नद्य मित्रमह.**' आदि ११-१३ तक रोगघ्न उपनिषत् हैं।

उदुत्यं सप्तोना सौर्यम् ..... अन्त्यस्तृचो रोगघ्नः उपनिषत्। सर्वानुक्रम. ४/४

इसी भाँति प्रथम मण्डल के १०१ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र —

'प्र मन्दिने पितुमदर्चता.' गर्भस्रांविण्युपनिषत् है सर्वानुक्रमणिका का सूत्र है .... प्रमन्दिन एकादश कुत्स आद्या गर्भस्राविन्युपनिषत्।

पञ्चम मण्डल के नवर्चात्मक ७८ वें सूक्त की अन्तिम ५ ऋचाएं (५ वें से ९ वें तक) भी गर्भस्रांविन्युपनिषत् है।

अश्विनौ नव सप्तवध्रि त्र्युष्णिगादि अन्त्याः पञ्च गर्भस्रांविण्युपनिषत्। सर्वानु.

सप्तम मण्डल का ८ ऋचाओं का ५५ वाँ सूक्त प्रस्वापिन्युपनिषत् है जिसकी प्रथम ऋचा 'अमीवहा वास्तोष्पते' है।

इसी भाँति बृहद्देवता में भी है। उदाहरण रूप में दो-तीन उद्धरण प्रस्तुत हैं :—

२१५ **बृहस्पतेरनर्वाणं कङ्कतोपनिषत् परम्।** ४/६३

'अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम्' आदि आठ ऋचाओं वाले बार्हस्पत्य सूक्त से परवर्ती सूक्त 'कङ्कतोपनिषत्' है। इसके प्रथम मन्त्र 'कङ्कतो न कङ्कतो.' के कङ्कत प्रतीक से इसका नाम कङ्कतोपनिषत् ईशावास्योपनिषत् की भाँति है। इसमें १६ मन्त्र हैं तथा यह ऋग्वेद का १/१९१ वां सूक्त है। यहाँ भी सर्वानुक्रमणिका का वचन है :—

(क) **कङ्कतः षोडशोपनिषदानुष्टुभमप्तृणसौर्यं विषशङ्कावानगस्त्यः प्राब्रवीत्.....।**

कङ्कत. से प्रारम्भ होने वाले १६ मन्त्रों का यह सूक्त है जो उपनिषत् है, आपः तृण और सूर्य इसके देवता है विष भयत्रस्त अगस्त्य ने इसका उच्चस्वर में उच्चारण किया है।

(ख)**इमां खनामीति सूक्तमिन्द्राणी यत् स्वयं जगौ।** ८/५५
तदौपनिषदं षट्कं भाववृत्तं प्रचक्षते।। ५६

'इमां खनाम्योषधिं वीरुधम्' से आरम्भ हुआ यह सूक्त छः ऋचाओं का है जिसे स्वयं इन्द्राणी ने गाया है। इस (१०/१४५) सूक्त को औपनिषद भाववृत्त कहते हैं।

बृहद्देवताकार ने 'प्रचक्षते' जैसे क्रियापदों का प्रयोग करते हुए अनुक्रमणिका की तथा देवतानिर्देश करने वाले यास्क की सम्मति ध्वनित की है। यहाँ भी अनु. का वचन है :—

इमामिन्द्राण्युपनिषत् सपत्नीबाधनम्।

इस दृष्टि से अथर्ववेद को देखें तो उसका ब्रह्मवेद नाम पूर्णतया सार्थक है जिसमें ऐसे उपनिषद् भरे पड़े हैं।

मन्त्रों में प्राप्त उपनिषत् मन्त्रोपनिषत् तथा मन्त्रव्याख्यान ब्राह्मणों से प्राप्त उपनिषद् ब्राह्मणोपनिषत् हैं दोनों ही वेदोपनिषत् हैं। उपनिषत् नाम देने मात्र से ईशावास्य, मुण्डक, श्वेताश्वतर, शिवसंकल्प आदि उपनिषत् पौरुषेय नहीं हो जाते हैं तथा तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, प्रश्न और माण्डूक्य आदि उपनिषत् इस नाम के कारण अपौरुषेय नहीं हो जाते हैं। ये तत्तद् ब्राह्मण आरण्यक के भाग होने से ऋषि प्रोक्त होने के कारण पौरुषेय ही हैं जबकि उपनिषत्त्व दोनों में समान है।

यह तथ्य सुस्पष्ट रूप में प्रतिपत्ति का विषय न होने से विचारक प्रायः भ्रान्तिवश मूल अर्थ से दूर हट जाते हैं। ऋषि दयानन्द तैत्तिरीयोपनिषत् के वचन 'एषा वेदोपनिषत्' का अर्थ करते हैं 'इयमेव वेदानामुपनिषद् अस्ति'। इसका भाव है कि यही वेदों की उपनिषत् है। इतने स्पष्ट कथन के होते हुए भी स्वामी विद्यानन्द जी इसके स्पष्टीकरण में कहते हैं— यही वेद और उपनिषत् का सार है (भूमिका भास्कर पृष्ठ ३४९, ३५१)। ऐसा लगता है कि स्वामीजी को चिररूढ संस्कारों के कारण ऋषिकृत अर्थ 'वेदानामुपनिषत्' अयुक्त लगा और एक प्रकार से उन्होंने ऋषि के अर्थ को ठीक कर दिया।

यद्यपि यहाँ उपनिषत् के विभिन्न अर्थ तथा उनके अर्थों का प्रयोग आदि बहुत कुछ प्रतिपादनीय है, उपनिषत् के वेदत्व का प्रतिपादन मात्र ही अभीष्ट होने से इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि उपनिषद् वेद ही हैं।

अनन्ता वेदा ज्ञान की अनिवार्यता —

वेद चार हैं यही ज्ञान यथेष्ट हैं वे अनन्त हैं इस ज्ञान से क्या होगा यह विचार युक्तियुक्त नहीं है। ज्ञान के एकदेश से कृत्स्न ज्ञान की उपलब्धि सम्भव नहीं है। साथ ही

अपूर्ण ज्ञान अकिञ्चित् कर है। शास्त्र प्रणयन करने वालों के लिए तो कृत्स्न ज्ञान अनिवार्य है।

भगवान् यास्क कहते हैं :—

२१६ **यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।** —निरुक्त १.१६

जैसे जनपद सम्बन्धी जीवन व्यवहार्य विद्याओं में किसी एक विद्या के ज्ञान से पुरुषवैशिष्ट्य युक्त माना जाकर मान प्राप्त कर लेता है वैसा पारोवर्यविदो में नहीं है वहाँ तो अनेक विद्याओं का ज्ञाता ही प्रशस्य माना जाता है।

जब प्राचीन वाङ्मय में ऐसे स्पष्ट उल्लेख हैं तो क्या जिज्ञासा तथा उससे प्रेरित अनुसन्धानवृत्ति हमें एतदर्थ बाध्य नहीं करती है? अनुसन्धान तर्पण से ऋषि ऋण अपाकरण की तीव्र सदिच्छा कभी नहीं जगती है क्या?

इसका सबसे बड़ा लाभ है कि शास्त्रों को उनकी उचित व्याख्या देकर भावी पीढ़ियों का मार्ग प्रशस्त करें।

यहाँ इस विषय को तनिक स्पष्ट करना आवश्यक है।

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के संग्रह अथवा अष्टाध्यायी नाम के ११ वें काण्ड में पञ्चम अध्याय का छठा ब्राह्मण 'पञ्चमहायज्ञब्राह्मण' है। ७ वाँ ब्राह्मण स्वाध्यायप्रशंसा ब्राह्मण है। छठे ब्राह्मण में कुल ९ कण्डिकाएँ हैं तथा सातवें में १० कण्डिकाएँ हैं।

छठे ब्राह्मण की तीसरी कण्डिका से आठवीं कण्डिका तक स्वाध्याय विधि तथा उसका फल है। ४,५,६,७ कण्डिकाओं में क्रमशः ऋचाओं, यजुषों, सामों तथा अथर्वाङ्गिरसों के स्वाध्याय का विधान तथा फल है। ८ वीं कण्डिका इस प्रकार है :—

२१७ **मध्वाहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास-पुराणं गाथा नाराशंसीरिति अहरहः स्वाध्यायमधीते, मध्वाहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति। त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्भिः। घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति।** ११.५.६.८

प्रतिदिन जो अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी का स्वाध्याय करता है यह देवों के लिए मधु (शहद) की आहुतियाँ हैं। जो स्वाध्याय करता है वह मधु की आहुतियों से ही देवों को तृप्त करता है। वे तृप्ति प्राप्त देव इस स्वाध्यायकर्ता को योगक्षेम से, प्राण से, रेत से सभी प्रकार से पुण्य सम्पत्तियों से तृप्त करते

हैं। पितरों के प्रति स्वधारूप में घृत और मधु की नहरें बहती हैं अर्थात् पितरों की उनके अभीष्ट अन्न से पूर्ण तृप्ति होती है।

इस कण्डिका के भाष्य में आचार्य सायण का लेख है :—

(क) **अनुशिष्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते एभिरित्यनुशासनानि व्याकरण-निरुक्तादीनि षडङ्गानि। न्यायमीमांसादयः विद्याः, उक्तिप्रत्युक्तिरूपं प्रकरणं वाकोवाक्यम्, इतिहासः पुरावृत्तप्रतिपादकं भारतादि, पुराणं वैष्णवादि, इतिहासः पुराणं चेति द्वन्द्वैकवद्भावः। नराः मनुष्याः, तत्प्रशंसापादकाः श्लोकाः 'नाराशंस्यः गाथाः'। इत्थं चतुर्दश विद्यास्थानानि ब्रह्मयज्ञकाले अध्येतव्यत्वेन उपलक्षितानि।**

इस व्याख्या को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सायणाचार्य यहाँ वेदेतर सभी विषयों के स्वाध्यायत्वेन विधान को अभिमत मानते हैं। यह भी नहीं है कि वे इसकी अन्य व्याख्या से अपरिचित हैं। अपने अभिमत की समाप्ति पर वे लिख़ते हैं :—

(ख) **अन्ये त्वेवं व्याकुर्वते— मन्त्रब्राह्मणभेदेन वेदभागो द्विविधः। तत्र ऋगादि—शब्दैर्मन्त्रभागस्याध्ययनं प्रतिपादितम्। अधुना ब्राह्मणभागस्याध्ययनं प्रतिपाद्यतो तत्र 'स वै सम्भारान्त्संभरति' (शत. १४.१.२.१) इत्यादीनि विधिवाक्यानि 'अनुशासनानि'। उपासना-विधिवाक्यानि विद्या। स वै गौतमस्य पुत्रवृतो जनं धावयेत् (शत. ११/४/१/४) इति। उक्ति-प्रत्युक्तिरूपं ब्राह्मणं वाकोवाक्यम्। आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शत. ११.१.६.१), इत्यादिकं सृष्टिप्रतिपादकं ब्राह्मणम् इतिहासः। उर्वशीहाप्सरा पुरुरवसमैडं चकमे (शत. ११.५.१.१) इत्यादीनि पुरातनपुरुषवृत्तान्तप्रतिपादिकानि पुराणम्। महाहिमिव वै ह्रदात् (शत. ११.५.५.८) इत्यादयो मन्त्रा गाथाः। समानान् सदमुक्षन्ति (शत. ११.५.५.१३) इत्यादिका मनुष्यप्रशंसापरा नाराशंस्यः। एवं च अधीते इति अध्ययनलिङ्गमनुगृहीतं भवति। अन्यत् सर्वं पूर्ववद् योज्यम्।**

अन्य विद्वान् इसकी इस रूप में व्याख्या करते हैं यह कहकर उस व्याख्या को शतपथ के मूल उद्धरणों के साथ सायणाचार्य ने यथावत् प्रस्तुत किया है। आचार्य की स्वयं की व्याख्या की अपेक्षा यह व्याख्या फिर भी ठीक है ब्राह्मण के विषयों को लेने से।

इतिहास से भारत को तथा पुराण से वैष्णव अर्थात् विष्णुपुराण को लेना तो सर्वथा ही अनुचित है। याज्ञवल्क्य के इस प्रवचन के समय महाभारत की ही रचना नहीं हुई थी विष्णुपुराण की तो बात ही क्या जो महाभारत के बहुत काल के पश्चात् बना था।

यदि सायणाचार्य 'अनन्ता वेदा' को यथावत् बुद्धिस्थ कर लेते तो इन सभी विषयों को वेद मन्त्रों के उद्धरणों से प्रस्तुत करते। सायणाचार्य द्वारा उद्धृत व्याख्या सम्भवतः श्री हरिस्वामी के भाष्य का अंश है। ये भी वेद में इन विषयों को नहीं देख सके।

भगवान् याज्ञवल्क्य स्वाध्याय को देवयज्ञ मानते हुए अनध्यायों में भी वेदाध्ययन को नियमित रखने का उपदेश देते हुए ९ में कारिका में प्रबलवायु, विद्युत् की चमक तथा कड़कड़ाहट, मेघगर्जन को ४ वषट्कार मानते हुए वषट्कारों को देवयज्ञ की पूर्ति के अंग मानकर अनध्याय न समझने का आदेश देते हैं। स्वाध्याय प्रशंसा में सप्तम ब्राह्मण में कहते हैं :—

२१८ **यन्ति वा आपः, एति आदित्यः एति चन्द्रमाः, यन्ति नक्षत्राणि, यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्युः। एवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। तस्मादपि ऋचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुम्ब्यां वाऽभिव्याहरेत् व्रतस्याव्यवच्छेदाय।।** ११.५.७.१०

इस ब्राह्मण की यह अन्तिम कण्डिका है, इसमें कहा गया है कि आप = जल चलते रहते हैं, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं, जैसे ये देवता गति न करें एकक्षण के लिए भी रुक जावें तो ये अपना आधिकारिक कर्तव्य नहीं करते हैं तो इससे इनकी निष्प्रयोजनता प्रमाणित होती है यह जीवन की व्यर्थता है स्वभावच्युति से। इसी प्रकार उस दिन ब्राह्मण हो जाता है जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता है यह उसके व्रत का विच्छेद जीवन की निष्प्रयोजनता है। इस कारण चाहे वह केवल एक ऋचा अथवा केवल एक यजुः अथवा केवल एक साम-गान, अथवा केवल एक गाथा, केवल कुम्ब्या का ही उच्चारण करे, किन्तु करे अवश्य व्रत के अविच्छेद के लिए।

छठे ब्राह्मण में नियत पूर्ण स्वाध्याय की विधि का उपदेश है अतः वहाँ वेद का शाब्दिकरूप ऋगादि के द्वारा तथा वैषयिकरूप अनुशासन, विद्या वाकोवाक्यादि द्वारा पृथक्-पृथक् गणना का विषय रहा है। यहाँ सर्वथा असमर्थता में केवल किसी एक के उच्चारण का उपदेश है अतः उच्चार्यरूप ऋचा, यजु, साम, गाथा तथा कुम्ब्या की एक-

एक इकाई के रूप में गिने गये हैं। अतः दोनों कथनों में एकता है तथा इन अनुशासन से यहाँ के कुम्ब्या तक के विषयों की समानरूप से वेदता प्रमाणित होती है मन्त्ररूप वेद के क्रम में।

इसी सन्दर्भ में आश्वलायन गृह्यसूत्र के इस निम्नलिखित वाक्य को देखा जावे :—

२१९ **अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः इतिहासपुराणानीति।।** ३.३.१

अब स्वाध्याय का अध्ययन करे— ऋचाओं, यजुषों, सामों, अथर्वाङ्गिरसों, ब्राह्मणों, कल्पों, गाथाओं नाराशंसियों तथा इतिहास पुराणों का।

ये सभी स्वाध्याय को ही व्यासविधि में प्रतिपादित करते हैं। समास में केवल स्वाध्याय शब्द है। जो आगे के सूत्रों से स्पष्ट है जहाँ 'स्वाध्याय' जैसा शब्द नहीं है अपितु ऋचा से पुराणानि तक के नाम हैं।

यहाँ स्वाध्याय से देवों की तथा पितरों की तृप्ति बतायी गयी है :—

(क) **यद् ऋचोऽधीते पयआहुतिभिरेव तद् देवतास्तर्पयन्ति। यद् यजूंषि घृताहुतिभिः, यत् सामानि मध्वाहुतिभिः।। यदथर्वाङ्गिरसः सोमाहुतिभिः, यद् ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानि तदमृताहुतिभिः।**

ऋचाओं का अध्ययन पय आहुतियों से ही देवताओं की तृप्ति करता है इस भांति यजुओं का अध्ययन घृताहुति से, साम का मधु की आहुतियों से, अथर्वाङ्गिरसों का सोम आहुतियों से तथा ब्राह्मण, कल्प, गाथा, इतिहास पुराणों का अध्ययन अमृताहुतियों से देवों को तृप्त करता है।

आहुति के स्थान पर कुल्या रखकर इसी अध्ययन को उक्त क्रम में पितरों का तृप्ति कारक बताया गया है वहाँ भी इतिहास पुराणों को अमृत-कुल्या से पितरों को तृप्त करने वाला बताया गया है।

सोचने की बात है कि ऋचा आदि पय आदि से तृप्ति करते हैं जबकि ब्राह्मणादि-पुराणान्त विषय अमृत से तृप्ति करने वाले बताये गये हैं जो पय आदि की अपेक्षा अतीव उत्कृष्ट हैं तथा जिससे उत्कृष्ट अन्य कुछ भी नहीं है, तो क्या यह मानना उचित होगा कि ऋगादि चतुष्टय से ब्राह्मणादि महत्त्व में अधिक है? यह किसी को भी स्वीकार्य नहीं होगा

कि सादि सान्त पौरुषेय ब्राह्मण; आदि अनादि अनन्त अपौरुषेय वेद से बढ़कर हैं। किन्तु जब यह बोध हो जाता है कि ऋगादि चतुष्टय में ही ब्राह्मणादि सभी विषय अर्थरूप से हैं तो केवल वाग्रूप ऋगादि चतुष्टय अधिक फलप्रद होंगे जब उनका अर्थतत्त्व हृदयङ्गम हो जायेगा, यही तो अमृतत्व है अतः किसी प्रकार की न्यूनाधिकता का प्रश्न ही नहीं उठता है।

पं. रघुनन्दन जी शर्मा की सद्भाव में लिखी गयी **'वैदिक सम्पत्ति'** अतीव श्रेष्ठ कृति है। इन नौ दशकों में इतना व्यापक ग्रन्थ सम्भवतः दूसरा नहीं निकला है। परन्तु ब्राह्मण सूत्र आदि का यथार्थ बोध न होने से तथा प्रक्षेप को अत्यधिक महत्त्व देने से कई स्थानों पर सर्वग्राही सुन्दर निर्णय नहीं दे सके। उदाहरण रूप में बृहदारण्यकोपनिषत् का निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत है :—

२२० **अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि।** २.४.१०

इस काण्डिकांश पर श्री शर्मा जी के ये विचार द्रष्टव्य हैं — इस वर्णन में उपनिषत्, श्लोक, सूत्र और व्याख्यान आदि पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें भी सूत्रग्रन्थ तो बहुत ही आधुनिक हैं। कोई भी सूत्रग्रन्थ चाहे वह गृह्य हो या श्रौत, दर्शन या व्याकरण, ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्व का नहीं है। उन सूत्रों की व्याख्या तो बहुत ही नवीन है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों से सम्बन्ध रखने वाले ये उपनिषत् सूत्रों और उनकी व्याख्याओं का वर्णन करते हैं ......। इनके अतिरिक्त वेदों में न श्लोक है न सूत्र ही हैं। ऐसी दशा में उपनिषदों का यह भाग बहुत ही आधुनिक सिद्ध होता है। (पृष्ठ ३९१ पञ्चम संस्करण दयानन्द दीक्षा शताब्दी महोत्सव)

श्री शर्मा जी की दृष्टि में यह प्रक्षिप्तांश है। गत पृष्ठों में यह भलीभांति बताया गया है कि ऐसे सब वेद के ही विषय हैं तथा ब्राह्मण और उपनिषद् उसी का उल्लेख कर रहे हैं। यहाँ सूत्र और श्लोक पर संक्षिप्त विचार किया जा रहा है।

उपनिषत्, आरण्यक सहित ब्राह्मण की क्या बात, सूत्र तो वेद में भी हैं। अथर्ववेदीय ये दो मन्त्र सूत्र का उसी अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं जो लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध हैं :—

२२१ **यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।**
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्।। १०/८/३७

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्।। ३८

जो इस फैले हुए सूत्र को, जिसमें यह प्रजा गूँथी हुई है जानता है साथ ही इस सूत्र के भी सूत्र को जानता है वह महद् ब्रह्म को जान पाता है। ३७। मैं उस वितत सूत्र को जानता हूँ जिसमें यह स्थावर तथा जंगम प्रजा तानें की भांति अवस्थित है। साथ ही मैं उस सूत्र को भी जानता हूँ जो इस सूत्र का सूत्र है अतः मैं महद् ब्रह्म को जानता हूँ (जिसमें सूत्रों के सूत्र भी उद्भव पाते हैं)। ३८।

बृहदारण्यकोपनिषत् इन्हीं सूत्रों को इंगित कर रहा है। जहाँ तक व्याख्या का प्रश्न है, ब्राह्मणादि का व्याख्यान ऐसे ही वेद सूत्रों का व्याख्यान है जो श्रौतादि सूत्रों के कर्कादि के व्याख्यान की भाँति अथवा पाणिनीयाष्टक के वार्तिक भाष्य और उनके काशिकादि व्याख्यान ग्रन्थों के जैसा नहीं है।

'सूचनात् सूत्रम्' के रूप में सूत्र का एक अर्थ सूचक भी है, तदनुसार सम्पूर्ण प्रजाएँ जिसमें पिरोई हुई हैं, उस सूत्र का सूचक अथवा सूत्र यह वेद ही तो है। वेद ज्ञान की सार्थकता शास्त्रीय बुद्धि विलास में न होकर विश्व-सूत्रधार उस परमात्मा के सविज्ञान ज्ञान में ही है अतः वेद से भिन्न और बढ़कर कोई अन्य सूत्र क्या होगा?

वायुपुराण (उपोद्घात पाद) में सूत्र का लक्षण दिया गया है जो एकमात्र आज तक सर्वत्र व्यवहार का विषय है :—

२२२ **अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।**
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।। ५९/१४२

न्यूनातिन्यून अक्षरों वाला, सन्दिग्धार्थ विनिर्मुक्त, सारमय, सर्वतोमुख, स्तोभ रहित, अवद्यलेश से भी शून्य को सूत्रवेत्ताओं ने सूत्र माना है।

यह लक्षण ऋषिलक्षण अध्याय में पठित है। एकमात्र वेद ही इस लक्षण पर खरा उतरता है। जैमिनि आदि ऋषियों के मीमांसादि सूत्रों पर उक्तानुक्त दुरुक्त चिन्तन वाले वार्तिक तथा उन पर भी भाष्य हैं जिनमें अनेक सूत्र प्रत्याख्येय भी हैं। वेद सूत्र पर ऐसा विचार करने वाले वार्तिक, भाष्यों की सृष्टि कभी नहीं हुई है। एक भी वर्ण वहाँ व्यर्थ अथवा अधिक नहीं है ऐसी सम्पूर्ण शिष्ट परम्परा है। ऋचाओं को गीति का रूप देने के लिए कुछ पदों को विकृत रूप दिया जाता है अथवा, **'हाउ'** आदि पदाकृतियों का विन्यास

किया जाता है जिसे 'स्तोभ' कहते हैं, ऐसा एक पद भी वेद में नहीं है अतः 'अस्तोभ' कहा गया है। पाणिन्यादि सूत्रों में स्तोभ को अवसर ही नहीं है अतः वहाँ अस्तोभता जैसा लक्षण अभीष्ट नहीं है। मिताक्षरों में आने वाले पद भी सार्थक हैं। तथापि 'पद्यलक्षण' समन्वय की पूर्ति अनिवार्य होने से वहाँ भी वे स्तोभ नहीं हैं। यह लक्षण ईश्वर में भी चरितार्थ है फलतः ऐसे आर्ष सूत्रों में अभिनीत है अतः सूत्रपद के सन्निवेश मात्र से किसी ग्रन्थभाग या ग्रन्थ को आधुनिक नहीं कहा जा सकता है।

यही स्थिति 'श्लोक' पद की है। यास्कीय निघण्टु में वाक् के ५७ नामों में प्रथम नाम श्लोक है। यहीं 'गाथा' और 'अनुष्टुप्' नाम भी हैं। छन्दोजाति में अष्टाक्षर पाद वाले छन्दों के सम्पूर्ण भेदों का एक ही नाम 'अनुष्टुप्' है जैसे गायत्री, उष्णिक् , जगती जातियों के नाम हैं। यही 'जाति' नाम अपने ही एक छन्दोविशेष का नाम है। इसी का दूसरा नाम पद्य तथा श्लोक भी हैं जबकि ये दोनों नाम पादबद्ध मिताक्षर रूप वाले किसी भी आकृति विशेष के भी हैं तदनुसार यावन्मात्र जातियों के सभी छन्दोभेदों को श्लोक और पद्य कहने का प्रचलन सम्पूर्ण संस्कृत जगत् में है। यही कारण है कि प्रश्नोपनिषत् में मन्त्र को भी श्लोक कहकर उद्धृत किया गया है :—

२२३ **तदेष: श्लोक:**

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।

अथेमे अन्य अपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् इति।। १.११

अस्यवामीय सूक्त का यह मन्त्र ऋग्वेद (१.१६४.१२) में तथा अथर्ववेद (९.९.१२) में पठित है। इस मन्त्र को भगवान् पिप्लाद जो अथर्ववेदीय पैप्लादसंहिता के प्रवचनकर्ता भी हैं, श्लोक कहते हैं।

ब्रह्मवेत्ताओं में शिरोमणि भगवान् याज्ञवल्क्य अपने ही वेद की माध्यन्दिन तथा काण्वशाखा के मन्त्र को शतपथ के बृहदारण्यकोपनिषत् में श्लोक कहते हैं।

(क) **तदेते श्लोका भवन्ति —**

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।। ४/४/१०

यहाँ लगभग १३-१४ पद्य हैं अतः 'श्लोका' पद का प्रयोग किया गया है। इस उद्धृत मन्त्र का प्रायः सभी को ज्ञान है अतः इसे लिया गया है।

स्वयं मन्त्र भी 'श्लोक' शब्द का प्रयोग करता है :—

(ख) **नमः श्लोक्याय चावसान्याय च।** —माध्य. संहिता ६/१६.३३

महीधर इसका अर्थ करते हैं — 'श्लोका वैदिकमन्त्रा यशो वा तत्र भवः श्लोक्यः तस्मै नमः।' श्लोक का एक अर्थ वैदिक मन्त्र तथा दूसरा अर्थ यश है। वैदिक मन्त्रों में जो स्तुत्य रूप में सर्वत्र है अथवा 'तस्य नाम महद् यशः' के अनुसार जो यश स्वरूप है, इस रूप में स्तुत्य श्लोक्य हैं उस श्लोक्य प्रभु के लिए नमः। इसी का दूसरा मन्त्र है :—

(ग) **स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे।** १८/१

वाक्यपूर्ति 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' से है, मेरा स्वर, मेरा श्लोक, मेरा श्रव, मेरी श्रुति ये सब यज्ञ से देवों के प्रीणन का सामर्थ्य प्राप्त करें।

ये चारों ही वाङ्मय रूप हैं फलतः श्लोक गद्य-पद्य सम्बद्ध बन्ध विशेष ही हैं, यही व्याख्या उवट और महीधर करते हैं।

श्लोक और सूत्र समानार्थक भी हैं। चरकसंहिता में सूत्र स्थान को श्लोक स्थान भी कहा गया है। साथ ही सम्पूर्ण शास्त्र को सूत्र भी कहा गया है :—

२२४ **तत्र आयुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यन्वर्थान्तरम्।**

आयुर्वेद शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण और तन्त्र समानार्थ हैं। जो आयुर्वेद का अर्थ है वह आयुश्शाखा, आयुर्विद्या, आयुःसूत्र, आयुर्ज्ञान, आयुश्शास्त्र,आयुर्लक्षण और आयुस्तन्त्र है।

व्यापक अध्ययन शास्त्र-निर्णय का प्रमुख अनुबन्ध है, श्री शर्मा जी ऋषि दयानन्द का यजुर्भाष्य देखते तो सम्भवतः श्लोक सूत्र आदि के विषय में वे अपनी धारणा पर पुनर्विचार करते यथा :—

२२५ **इन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहा अंशाय स्वाहा भगाय स्वाहा अर्यम्णे स्वाहा।**

—माध्य. संहिता १०/५

पञ्चम कण्डिका के पार्थसंज्ञक छः मन्त्र अभिषेक के पश्चात् आहुति देने के हैं। इस पूरी कण्डिका के सम्बद्ध भागमात्र का ऋषि दयानन्द का भाष्य यहाँ उद्धृत है —

(क) **सरस्वत्यै = वेदार्थसुशिक्षाविज्ञापिकायै वाचे, स्वाहा = व्याकरणाद्यङ्गविद्या, घोषाय = सत्प्रियभाषणादियुक्तायै वाण्यै, स्वाहा**

= तथ्योपदेशे वक्तृत्वविद्या, श्लोकाय = तत्त्वसंघातसत्काव्यगद्यपद्य— छन्दोनिर्माणादिविज्ञानाय, स्वाहा = तत्त्वकाव्यशास्त्रादिविद्या।

इसका राष्ट्रभाषा में भी उन्हीं के द्वारा किया गया अर्थ इस प्रकार है :—

(ख) सरस्वत्यै = वेदों का अर्थ और अच्छी शिक्षा का ज्ञान कराने वाली वाणी के लिए, स्वाहा = व्याकरणादि वेदों के अङ्गों का ज्ञान, घोषाय = सत्य और प्रिय भाषण से युक्त वाणी के लिए, स्वाहा = सत्य उपदेश और व्याख्यान देने की विद्या, श्लोकाय = तत्त्वज्ञान का साधक शास्त्र, श्रेष्ठ काव्य गद्य और पद्य आदि छन्द रचना के लिए, स्वाहा = तत्त्व और काव्यशास्त्र आदि की विद्या।

वेदाङ्ग व्याख्यान विद्या और काव्यशास्त्र आदि की विद्याओं के अनुशास्ता ग्रन्थ श्लोक और सूत्रों के बिना कैसे रचे जा सकते हैं, फलतः मन्त्र ही इन विभिन्न शास्त्रों का तथा उनके माध्यम सूत्रादि का निर्देश करता है तो वेद में इनका अस्तित्व स्वतः सिद्ध है।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में तथा अन्यत्र भी वेद की अपौरुषेयता की प्रतिज्ञा कर तथा सदैव जागरूक रहकर वेदभाष्य करने वाले ऋषि दयानन्द ऐसी विद्याओं का अस्तित्व वेद में मानते हैं तो 'अनन्ता वेदाः' की इस ग्रन्थ में की जा रही व्याख्या ऋषि के सिद्धान्तों के भी अनुकूल है, यह स्पष्ट है।

'अनन्ता वेदाः' को गजनिमीलिका से देखने से ही शास्त्र व्याख्याएँ ठीक नहीं हुई हैं यह उपरिधृत 'एवं वा अरेऽस्य महतो' वाक्य ही निदर्शनार्थ प्रस्तुत है।

प्रस्थानत्रयी के प्रथम भाष्यकार भगवान् आद्य शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :—

२२६ **अरे मैत्रेयि! अस्य परमात्मनः प्रकृतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् निश्वसितमिव निश्वसितम्, यथा अप्रयत्नेनैव पुरुषनिश्वासो भवति एवं वा अरे।**

चतुर्विधं मन्त्रजातम् एवमष्टविधं ब्राह्मणम्। एवं मन्त्रब्राह्मणयोरेव ग्रहणम् नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्य अभिव्यक्तिः पुरुषनिश्वासवत्, न च पुरुषबुद्धि प्रयत्नपूर्वकः, अतः प्रमाणं निरपेक्ष एव स्वार्थे।

पुरुषनिश्वासवदप्रयत्नोत्थितत्वात् प्रमाणं वेदः, न यथा अन्यो ग्रन्थ इति।

यहाँ प्रतिपाद्य की स्पष्टता के लिए उद्धृत अंश के ही पूर्णतः पर्याप्त होने से 'ऋग्वेदो' से 'व्याख्यानानि' तक के समस्त नामों का भाष्य उद्धृत नहीं किया है।

भगवान् शंकर का अभिप्राय है कि ऋगादि चार प्रकार के मन्त्र तथा इतिहासादि अष्टविध ब्राह्मण इस प्रकार सकल वेद परमात्मा का निश्वास है। निश्वास का अर्थ प्रयत्न बिना चलती रहने वाली सतत क्रिया। अन्य कार्यों में पुरुष की बुद्धि का प्रयत्न योग रहता है। जैसे प्रयत्न बिना पुरुष के निश्वास हैं ऐसे ही नियत रचना वाले इस वेद की अभिव्यक्ति भी है। अतएव यह स्वतः प्रमाण है। अन्य ग्रन्थ ऐसे नहीं हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि मन्त्र ब्राह्मण में 'निश्वसितम्, निश्वसितानि' के वचन भेद के अनुसार आचार्य पाद किसी प्रकार का अन्तर नहीं कर रहे हैं तथा इन्हें समान रूप से परमात्मा का निश्वास स्वीकार कर रहे हैं।

ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य का व्याकरण आदि तथा अन्य अनेक प्रकार की टिप्पणियों के साथ एक अतीव सुन्दर संस्करण महान् विद्वान् पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने तैयार किया था। उसके १० और ५ अध्यायों के दो भागों का सुन्दर सम्पादित संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किया। सम्पादन भी ऐसे ही प्रौढ़ विद्वान् पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक का था। भूमिका में बृहदारण्यकोपनिषदीय इसी वचन को उद्धृत कर पूज्य जिज्ञासु जी लिखते हैं :—

(क) **शब्दो द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। उभयेषामपि स्रोतस्तु वेद एव। तत्र ऋग्यजुस्सामाथर्वाणस्तु साक्षादीश्वरस्य निश्वसितम्। अवशिष्टानि इतिहासाद्यनुव्याख्यानान्तानि परम्परासम्बन्धेनेश्वरनिश्वसितानि। यदा वेदः स्वयम् ऋग्यजुस्सामाथर्वणो यज्ञरूपाद् वेदात् प्रादुर्भुतान् मन्यते तदा परतः प्रमाणं शतपथब्राह्मणं कथमुपनिषदादीन् ब्रह्मनिश्वासं वक्तुं पारयेत्.......... इदमप्यत्रावधेयं यदारम्भे निश्वसितमिति पदमागतं तदा पुनः निश्वसितानीति पदस्यावश्यकतैव का? द्वयोर्निश्वसितयोर्भेद इत्येवमस्य तात्पर्यः।** —पृष्ठ २, टिप्पणी II

श्री जिज्ञासु जी कहना चाहते हैं कि नित्य और अनित्यरूप में शब्द दो प्रकार का है। इन दोनों प्रकार के शब्दों का स्रोत तो वेद ही है। इनमें ऋक्, यजुः, साम और अथर्व तो साक्षात् ईश्वर के निश्वास हैं, शेष बचे इतिहास से लेकर अनुव्याख्यान तक के ये सभी परम्परा सम्बन्ध से ईश्वर के निश्वास हैं।

जब वेद स्वयं ही ऋग्यजु: साम तथा अथर्व को यज्ञरूप वेद से प्रादुर्भूत मानता है तो परत: प्रमाण शतपथ (जिसका अंश बृहदारण्यकोपनिषत् है तथा इसमें) कैसे उपनिषत् आदि को ब्रह्म निश्वास कह सकता है? .... यह भी यहाँ ध्यान देने का विषय है कि जब आरम्भ में 'निश्वसित' पद आ गया है तो पुन: 'निश्वसितानि' जैसा पद कहने की आवश्यकता ही क्या थी? वस्तुत: इस पद को कहना दोनों निश्वासों का भेद बताने का तात्पर्य रखता है।

श्री जिज्ञासु जी ब्राह्मण को वेद नहीं मानते हैं किन्तु इनके महत्त्व को भी नहीं नकार सकते हैं फलत: परम्परारूप में ही सही वे ईश्वर का परोक्ष निश्वास इतिहासादि को मानते हैं तथा ऋगादि तथा इतिहास आदि की भिन्नता को सिद्ध करते हुए दोनों निश्वासों की विलक्षता के आधार पर अपने कथन का समर्थन करते हैं।

आचार्य शंकर श्वासभिन्नता को एक प्रकार से गिन ही नहीं रहे हैं अत: श्वासभिन्नता जैसा कोई बिन्दु न रखकर दोनों को समान निश्वास मानते हैं।

जब निश्वास को बिन्दु रूप में उठाया ही गया है तो उस पर भी थोड़ा-सा विचार प्रस्तुत है। ऋग्वेद से पुराण तक के सभी पद एकवचनान्त हैं विद्या से व्याख्यानानि तक छ: पद बहुवचनान्त हैं। एकवचनान्त ऋगादि पुराणान्त छ: पदों के लिए एकवचन 'निश्वसितम्' तथा विद्या से अनुव्याख्यानि तक के बहुवचनान्त छ: पदों के लिए बहुवचन 'निश्वसितानि' है। एक क्रम भी विचारणीय है— निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो .....पुराणम् तक निश्वसित आदि का पद है, 'विद्या: उपनिषत् .... अस्यैव एतानि निश्वसितानि' में अन्त में आया निश्वसितानि संगत है। आद्यन्त में निश्वसित का प्रयोग निश्वसित पर बल देने की दृष्टि से है।

यदि एक निश्वसितम् का प्रयोग किया जाता तो इसी पद को श्रोता अथवा पाठक को विद्यादि के साथ सम्बद्ध करने हेतु बहुवचन में अनुषंगरूप में लेना होता। उसकी आवश्यकता न समझकर तथा स्पष्ट प्रतिपत्ति हेतु सुहृत् होकर भगवान् याज्ञवल्क्य ने दो बार इसका प्रयोग कर दिया।

इतिहासादि सभी विषय मन्त्रों में होने से वेद ही हैं यह परम्परागत स्पष्ट एवं व्यापक प्रतिपत्ति होती तो न भगवान् शंकर को यहाँ मन्त्र ब्राह्मण का साहचर्य लेकर इस कण्डिका की व्याख्या करनी होती और न विपश्चिन्मूर्धन्य श्री जिज्ञासु को निश्वासद्वय विलक्षणता तथा शब्द की नित्यानित्यता का आश्रय लेना होता। दोनों ही के लिए ऋगादि तथा इतिहासादि में कोई अन्तर ही नहीं होता।

ये कतिपय उदाहरण केवल यह बताने के लिये प्रस्तुत किये गये हैं कि इन इतिहासादि शतशः विषयों को मन्त्र वेद की श्रेणी में देखने का अभ्यास सुदृढ होता जावेगा तो स्थान अस्थान में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' परिभाषा के व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहेगी। मन्त्रों में इनकी मूलरूप में तथा ब्राह्मण में व्याख्या रूप में प्राप्ति से विषय विभाजन द्वारा इनका व्याख्येयत्व और व्याख्यात्व भी सदैव स्पष्ट रहेगा तथा आर्यसमाज एवं तदितर वैदिक वर्ग में मतभेद जैसी स्थिति ही उत्पन्न नहीं होगी फलतः इन स्थलों में तो मिथ्या विवाद को पनपने का अवसर नहीं मिलेगा। शास्त्रों के ऐसे प्राचीन उल्लेखों को यथार्थ व्याख्या भी मिलेगी।

एक बार पुनः भगवान् मनु की स्मृति के पद्यों को लें जो उद्धरण क्रम २ तथा ५ में दिये गये हैं। उद्धरण दो के अनुसार मनु पितृकर्म में स्वाध्याय श्रवण श्रावण के क्रम में स्वाध्याय, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिलों को गिनते हैं। वे ही मनु पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि वेद न पढ़कर अन्यत्र श्रम करने वाला द्विज सान्वय शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है यह उद्धरण ५ का अर्थ है।

२२७ उद्धरण २, '**स्वाध्यायं**' में आये 'धर्मशास्त्राणि' का अर्थ **मेधातिथि** 'मन्वादिग्रन्थाः', **कुल्लूक** 'मन्वादीनि धर्मशास्त्राणि,' **राघवानन्द** 'मन्वादीनि,' रूप में मनु आदि स्मृतियों को लेकर करते हैं।

आख्यानानि का अर्थ मेधातिथि— सौपर्णमैत्रावरुणादीनि, सर्वज्ञनारायण— ब्राह्मणभागस्थाः कथाः, कुल्लूक मेधातिथिवत् तथा यही राघवानन्द, नन्दन— कंसवधादीनि करते हैं।

इतिहासान् अर्थात् इतिहास का अर्थ — मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, कुल्लूक, राघवानन्द तथा नन्दन सभी महाभारत आदि करते हैं।

पुराणानि का अर्थ मेधातिथि 'व्यासादिप्रणीतानि सृष्ट्यादिवर्णनरूपाणि' कुल्लूक 'ब्रह्मपुराणादीनि' करते हैं।

'खिलानि' का अर्थ मेधातिथि — 'श्रीसूक्तमहानाम्निकादीनि', कुल्लूक तथा राघवानन्द—'श्रीसूक्त—शिवसंकल्पादीनि', सर्वज्ञनारायण— 'तत्कालपठ्यमानशाखास्थवेदभागाः', करते हैं केवल नन्दन — 'हरिवंशादीनि' करते हैं।

मनु की व्याख्या में प्रसक्त कोई भी विद्वान्—

(क) **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्..** ।। २/६ ।।

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।७।।
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।।१३।।
श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः।।१४।।
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।।१२/९४।।
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।९७।।

जैसे वचनों से तथा इनके ही तुल्य अन्य वचनों से जो धर्म का साक्षात् महिमज्ञान भले ही न करते हों किन्तु धर्म के धरणात्मक स्वरूप को बताते हैं, अपरिचित नहीं रहता है, पूर्वापर प्रसंग तथा उपक्रमोपसंहार का ज्ञान और स्मरण होना चाहिए। ये पद्य स्पष्ट करते हैं कि :—

वेद पूरा का पूरा धर्म का मूल है (२/६)। मनु ने जिसका जो भी धर्म कहा है वह सम्पूर्ण (ज्यों का त्यों) वेद में कहा गया है; क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय है। ७। धर्मज्ञान उन्हीं के लिए है (तथा लाभकर है) जो अर्थ (विविध प्रयोजनों के संकल्प और उनकी पूर्ति) में तथा काम (यह कर लूँ वह कर लूँ जैसी कामनाओं के जाल तथा भोगों के आस्वादन) में आसक्त नहीं है। इस धर्म का ज्ञान प्राप्त करने की चाह वालों के लिए श्रुति ही परम प्रमाण है। १३। (स्मृतिद्वैध में श्रुति प्रमाण है तथा) श्रुतिद्वैध में वे दोनों ही पक्ष धर्म हैं। मनीषियों ने उन दोनों ही धर्मों का स्वरूप सम्यक् रूप से प्रतिपादित किया है तथा दोनों को ही ठीक बताया है। १४। वेद पितरों का, देवों का, मनुष्यों का (इस प्रकार सभी प्राजापत्यों का) सनातन (कालत्रय में प्रासंगिक) चक्षु है। वेदशासन अशक्य (पाठान्तर अतर्क्य) तथा अप्रमेय है। यह वास्तविक स्थिति है। १२.९४। चारों वर्णों की समष्टिवाला यह समाज, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत (परिमित), भव्य (सभी सम्भावनाओं की पूर्ति का पात्र) वर्तमान तथा अपरिमित ये सब पृथक्-पृथक् रूपों में वेद से ही सिद्ध होते हैं। ९७।

इसी सन्दर्भ क्रम में उपरि संकेतित पद्य भी द्रष्टव्य हैं —

२२८ **बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।**
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्।। १२/९९

सनातन वेदशासन सब भूतों का धारण करने वाला, पोषण करने वाला है अतः मैं यह परमोत्कृष्ट मानता हूँ कि यह मनुष्यों की साधना का विषय हो अर्थात् सब वेद की ही साधना करें यह सर्वोत्कृष्ट है।

ब्रह्म का निर्वचन 'बिभर्ति' धातु से माना गया है फलतः धारण पोषण करने से वेद ब्रह्म है यही धारणात्मक अर्थ धर्म का है अतः दोनों समानार्थक है, वेद धर्म है तथा धर्म वेद है। इस तथ्य के प्रकाश में स्वाध्याय में पाठ्य विषय 'धर्मशास्त्राणि' मन्वादिस्मृतिशास्त्र न होकर वेद के ही 'धर्मशासनानि वाक्यानि' हैं।

इसी भांति आख्यान आदि वेदमन्त्रगत विषय ही हैं न कि कंसवध आदि जैसे कथानक, नन्दन की यह व्याख्या असत् है इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

वेदाचार्यों का योगरूढ नाम व्यास है इस दृष्टि से प्रथम व्यास अपान्तरतमा तथा उसी मन्वन्तर में स्वयं स्वायम्भुव मनु हैं। इस वैवस्वत मन्वन्तर में प्रथम व्यास ब्रह्मा है अतः पुराण के लिए सावधान कथन होना चाहिए— 'ब्रह्मादिभिर्व्यासैः प्रणीतानि।' कुल्लूक भट्ट का 'ब्रह्मपुराणदीनि' भी उपयुक्त नहीं है, मनु के धर्मशासन काल में ऐसे पुराण नहीं थे। वर्तमान सभी पुराण भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास के महाभारत प्रणयन के पश्चात् काल के हैं। इसी भांति इतिहास का उदाहरण महाभारत भी ठीक नहीं है। यही स्थिति खिल शब्द से हरिवंश पुराण को लेने में है यह महाभारत का परिशिष्ट है। स्पष्ट है कि इन मनु—भाष्यकारों तक आते-आते वेद को शाखाओं तक देखने की हमारी दृष्टि इतनी दृढ हो गयी थी कि वेद के मन्त्रों में वर्तमान विषय भी वेद हैं अतः धर्म, पुराण, इतिहास आदि के नाम से एकमात्र वे ही ग्राह्य है हम सर्वथा भूल चुके थे। इस तथ्य को समझ लेने पर मनु-विधान के विधि निषेध में किसी भी प्रकार के विरोध की अथवा 'वदतो व्याघात' की प्रतीति नहीं होगी।

यही व्याख्या याज्ञवल्क्य के वचनों की है जब वे —

२२९ **वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।** —आचाराध्याय ४०

तथा—

वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः।
इतिहासांस्तथा विद्याः शक्त्याधीते हि योऽन्वहम्।। ४५।।

कहते हैं। वेदमन्त्रगत वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी, गाथा तथा इतिहास 'वेद एव' हैं, अतः दोनों में कहीं कोई विरोध नहीं है। शतपथ के पूर्वोद्धृत स्वाध्याय ब्राह्मण के ही ये पद्य पद्यानुवाद हैं।

इस दृष्टि से उन पुराणों के जिनमें वेदशाखा प्रसङ्ग विधिवत् उपदिष्ट है, प्रसंग को देखते हैं तो पुराण का वेदत्व निःसन्दिग्ध प्रमाणित रूप से प्राप्त होता है। प्रथम वायुपुराण को लेते हैं यहाँ लोमहर्षण के द्वारा कहा गया है —

अस्मिन् युगे कृतो व्यासः पाराशर्यः परन्तपः।
द्वैपायन इति ख्यातो विष्णोरंशः प्रकीर्तितिः।। —पूर्वार्धः ६०/११
ब्रह्मणा चोदितः सोऽस्मिन् वेदं व्यस्तुं प्रचक्रमे।
अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदकारणात्।।१२।।
जैमिनिं च सुमन्तुं च वैशम्पायनमेव च।
पैलं तेषां चतुर्थं तु पञ्चमं लोमहर्षणम्।।१३।।
ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह विधिवद् द्विजम्।
यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।।१४।।
जैमिनिं सामवेदार्थश्रावकं सोऽन्वपद्यत।
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।।१५।।
इतिहासपुराणस्य वक्तारं सम्यगेव हि।
मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः।।१६।।

इस युग में व्यास बनाया गया परन्तम पराशरनन्दन को, जो द्वैपायन नाम से ख्यात हैं तथा विष्णु के अंश कहे गये हैं। ११। वैवस्वतमन्वन्तरीय इस द्वापर में ब्रह्मा से प्रेरित उन कृष्णद्वैपायन (व्यास) ने वेदों के व्यासत्व के लिए प्रवृत्ति की। अतः वेद के कारण से उन्होंने चार शिष्य बनाये जो जैमिनि, सुमन्तु, वैशम्पायन, चतुर्थ पैल तथा पञ्चम लोमहर्षण है। १२-१३। द्विज पैल को ऋग्वेद के प्रवचन हेतु शिष्योपायन विधि से स्वीकार किया। इसी पद्धति से इस रूप से यजुर्वेद प्रवक्ता के रूप में वैशम्पायन को लिया। १४। सामवेद के अर्थ को सुनाने वाले के रूप में उन्होंने जैमिनि को अनुकूल रूप से स्वीकार किया। इसी भांति ऋषिश्रेष्ठ सुमन्तु को अथर्ववेद के हेतु लिया। १५। सर्वसमर्थ प्रभावक भगवान् व्यास ने इतिहास पुराण के प्रवचनकर्ता के रूप में भलीभांति मेरा ग्रहण किया। १६।

थोड़े से अन्तर से सर्वथा ये ही पद्य इसी क्रम में ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वभाग, अनुषङ्ग नामक द्वितीय पाद में) में पठित हैं :—

(क) अस्मिन् युगे तदा व्यासः पाराशर्यः परन्तपः।
द्वैपायन इति ख्यातो विष्णोरंशः सनातनः।। ३४/११
ब्रह्मणा चोदितः सोऽस्मिन् वेदं वक्तुं प्रचक्रमे।
अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदकारणात्।। १२।।
जैमिनिं च सुमन्तुं च वैशम्पायनमेव च।
चतर्थं पैलमेतेषां पञ्चमं लोमहर्षणम्।। १३।।
ऋग्वेदश्रावकं पैलमग्रहीद् विधिवद् द्विज!।
यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।। १४।।
जैमिनिं सामवेदार्थश्रावकं सोऽन्वपद्यत।
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।। १५।।
इतिहासपुराणस्य कल्पवाक्यस्य चैव हि।
मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः।। १६।।

इनके पाठ भेद को देखना है, अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। वायु के शब्द के सामने ब्रह्माण्ड के शब्द हैं :—

कृतो = तदा, प्रकीर्तितः = सनातनः, व्यस्तुम् = वक्तुम्, पैलं तेषां चतुर्थं तु = चतुर्थं पैलमेतेषाम्, जग्राह = अग्रहीत् द्विजम् = द्विजाः, वक्तारं सम्यगेव हि = कल्पवाक्यस्य चैव हि।

लगभग यही पाठ विष्णुपुराण का है :—

(ख) तेन व्यस्ता यथा वेदा मत्पुत्रेण महात्मना।
द्वापरे ह्यत्र मैत्रेय तस्मिन् शृणु यथातथम्।। ३/४/६।।
ब्रह्मणा चोदितो व्यासो वेदान् व्यस्तुं प्रचक्रमे।
अथ शिष्यान् प्रजग्राह चतुरो वेदपारगान्।। ७।।
ऋग्वेदपाठकं पैलं जग्राह स महामुनिः।
वैशम्पायननामानं यजुर्वेदस्य चाग्रहीत्।। ८।।
जैमिनिं सामवेदस्य तथैवाथर्ववेदवित्।
सुमन्तुस्तस्य शिष्योऽभूद् वेदव्यासस्य धीमतः।। ९।।
रोमहर्षणनामनं महाबुद्धिं महामुनिः।
सूतं जग्राह शिष्यं स इतिहासपुराणयोः।। १०।।

यहाँ पञ्चम श्लोक में बताया गया है कि कृष्णद्वैपायन व्यास को प्रभु नारायण ही जानो, मैत्रेय! इस पृथ्वी पर अन्य कौन महाभारत का कर्ता हो सकता है? मैत्रेय ऐसे उस मेरे महात्मा पुत्र ने इस (वैवस्वत मन्वन्तर के वर्तमान) द्वापर में जिस प्रकार वेदों का व्यास किया, इस विषय में यथातथ रूप में सुनो। ६। ब्रह्मा से प्रेरित व्यास ने अब वेदों के व्यास का प्रक्रम किया, एतदर्थ उन्होंने वेद पारंगत चार शिष्यों का ग्रहण किया। ७। उस महामुनि ने पैल को ऋग्वेद का पाठक चुना। यजुर्वेद के पाठक के रूप में वैशम्पायन को लिया। ८। जैमिनि को सामवेद के हेतु तथा अथर्ववेदवित् के रूप में सुमन्तु धीमान् वेदव्यास का शिष्य हुआ। ९। महामुनि ने रोमहर्षण नामक महाबुद्धि सूत को इतिहासपुराण में शिष्य बनाया। १०।

वायु और ब्रह्माण्ड का वेदकारणात् (१२) यहाँ वेदपारगान् (७) है। शेष भिन्नताओं का कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

श्रीमद्भागवत पुराण में भी यह विषय इसी रूप में है किन्तु वहाँ की पदावलि इन तीनों से भिन्न है अतः वह भी वहाँ विचार हेतु उद्धृत है :—

(ग) **अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवाँल्लोकभावनः।**
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये।। १२.६.४८।।
पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम्।। ४९।।
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव।। ५०।।
तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः।
एकैकां संहितां ब्रह्मन् एकैकस्मै ददौ विभुः।। ५१।।
पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्।। ५२।।
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे।। ५३।।

हे ब्रह्मन्! शौनक! धर्मरक्षा के लिए ब्रह्मा, ईश आदि लोकपालों से प्रार्थित लोकभावन विभु भगवान् विष्णु, पराशर से सत्यवती में अंशांश कला से अवतीर्ण हुए तथा वेद को चार भागों में विभाजित किया। ४८-४९। ऋचाओं, यजुषों, सामों और अथर्वमन्त्रों की राशि को वर्गशः लेकर मन्त्रों से मणिगणों की भांति चार संहिताएं निर्मित की। ५०।

हे ब्रह्मन्! अपने चार शिष्यों को बुलाकर महामति विभु व्यास ने उन्हें एक-एक संहिता दी।५१। आद्य संहिता जिसका नाम बह्वृच है पैल को दी। वैशम्पायन को यजुःगण जिन्हें निगद कहते हैं, दिये।५२। सामों की छन्दोग संहिता जैमिनि को दी और चतुर्थ शिष्य सुमन्तु को अथर्वाङ्गिरसी का प्रवचन किया।५३।

इन चारों पुराणों में शिष्यों के नाम तथा उन्हें दी गई संहिताओं के विषय में एकरूपता है किन्तु देने के प्रकार में प्रथम तीनों एक हैं, श्रीमद्भागवत इनसे पृथक् है। इसी भांति उन तीनों में प्रेरणादायक ब्रह्मा कहे गये हैं, इस पुराण में ब्रह्मा आदि की प्रार्थना से कृष्णद्वैपायन रूप में भगवान् विष्णु अवतीर्ण होकर एक वेद को चार रूपों में विभाजित कर चार शिष्यों को देते हैं ऐसा बताया गया है, इस प्रसंग में कहीं रोमहर्षण का नाम नहीं है। इससे दो बातें स्पष्ट होती है कि यह पुराण साम्प्रदायिक दृष्टि रखता है भले ही वह अतिवादी न हो, साथ ही सर्वसाधारण की भांति यह मानता है कि पुराण वेद नहीं है।

प्रथम तीन पुराण कहते हैं कि व्यास प्रथमतः ही पांच शिष्यों को वेद के विस्तार और प्रवचन के लिए चुनते हैं। वहाँ चार शिष्यों का उल्लेख यह बताता है वाग्रूप वेद के लिए ये चार हैं जो ऋगादि नाम से प्रसिद्ध हैं। इन समस्त वेदों में अर्थरूप में निहित पुराण इतिहास के लिए भी वेद तो ये ही है किन्तु याज्ञिक दृष्टि से किया गया यह संहिता रूप इसके लिए यथावत् ग्राह्य नहीं है। सभी वेदों से सृष्टि विषयक मन्त्रों को चुनकर उसे पुराण प्रकरण के रूप में संहिताबद्ध कर लोमहर्षण को दी। यह आशय तीनों पुराणों के कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है। जब वेद शाखा के इस प्रकरण को आगे देखते हैं तो जैसे एक-एक वेद के उत्तरोत्तर शाखा विस्तार का कथन है वैसे ही पुराण वेद का भी।

अथर्ववेद के क्रम के पूर्ण होते ही बिना किसी सामान्य परिवर्तन के पुराण विषयक कथन का आरम्भ हो जाता है। यथा :—

२३१ **नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः।**
चतुर्थोऽङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पश्च पञ्चमः।। —वायु. ६१/५४
श्रेष्ठास्त्वथर्वणो ह्येते संहितानां विकल्पनाः।
षट्शः कृत्वा ममाप्युक्तं पुराणमृषिसत्तमाः।।५५।।
आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो ह्यकृतव्रणः।
भारद्वाजोऽग्निवर्चाश्च वसिष्ठो मित्रयुश्च यः।
सावर्णिः सौमदत्तिस्तु सुशर्मा शांशपायनः।।५६।।

एते शिष्या मम ब्रह्मन् पुराणेषु दृढव्रताः।
त्रिभिस्तिस्रः कृतास्तिस्रः संहिताः पुनरेव हि।।५७।।
काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिः शांशपायनः।
मामिका च चतुर्थी स्यात् सा चैषा पूर्वसंहिता।।५८।।
सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा।।५९।।

अथर्ववेद की शाखाओं के विस्तार को पूरा बताकर अब अथर्व के पांच कल्प बताते हुए उस प्रसंग को पूरा किया जा रहा है कि पञ्च कल्प अथर्ववेद के १ नक्षत्र कल्प, २ वैतान कल्प, ३ संहिता विधि, ४ आंगिरस कल्प तथा पञ्चम शान्तिकल्प है। ५४। अथर्वों की संहिता के ये पांच श्रेष्ठ विकल्प—विविधकल्प विधान—हैं। हे ऋषिश्रेष्ठों! मैंने भी अपने शिष्यों से छः बार पुराण का प्रवचन किया। ५५। १ आत्रेय सुमति, २ बुद्धिमान् काश्यप अकृतव्रण, ३ भारद्वाज अग्निवर्चा, ४ वसिष्ठ मित्रयु, ५ सावर्णि सौमदत्ति तथा ६ सुशर्मा शांशपायन ये दृढव्रत मेरे छः शिष्य पुराण में हैं। इनमें से तीन शिष्यों ने एक-एक संहिता बनाई, इस प्रकार कुल तीन संहिताएं हैं। चौथी मेरी संहिता है जो इनके पूर्व की है। ये सभी संहिताएं चतुष्पाद हैं, सभी का एक ही विषय है केवल पाठान्तर की दृष्टि से इनमें पार्थक्य वैसे ही है जैसे वेद संहिताओं में। ५६-५९

थोड़े से पाठ भेद के साथ यही पाठ ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वभाग अनुषङ्गपाद) में है :—

(क) **नक्षत्रकल्पो वैतानः तृतीयः संहिताविधिः।** ३५/६१
चतुर्थोऽंगिरसः कल्पः शान्तिकल्पश्च पञ्चमः।
श्रेष्ठास्त्वथर्वणामेते संहितानां विकल्पकाः।।६२।।
खड्गः कृत्वा मया युक्तं पुराणमृषिसत्तमाः।
आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो ह्यकृतव्रणः।।६३।।
भारद्वाजोऽग्निवर्चाश्च वसिष्ठो मित्रयुश्च यः।
सावर्णिः सोमदत्तिश्च सुशर्मा शांशपासनः।।६४।।
एते शिष्या मम प्रोक्ताः पुराणेषु धृतव्रताः।
त्रिभिस्तत्र कृतास्तिस्रः संहिताः पुनरेव हि।।६५।।
काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिः शांशपायनः।
मामिका तु चतुर्थी स्यात् चतस्रो मूलसंहिता ः।।६६।।

सार्वस्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे वृथाभूता वेदशाखा यथा तथा।।६७।।

कुछ पाठाशुद्धियां वायुपुराण में थी कुछ इसमें हैं। इन्हें पाठों में शुद्ध इसलिए नहीं किया गया कि प्रबुद्ध पाठकों को सम्पादकों के अवधान का ज्ञान हो जावे। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली का यह प्रकाशन है जो वेंकटेश्वर प्रेस मुंबई के संस्करण का पुनर्मुद्रण है। यहाँ मुख पृष्ठ पर ही 'डॉ. के.वी शर्मणा संशोधितम्' सूचना है किन्तु संशोधन के नाम पर इसमें कुछ भी नहीं है।

यहाँ खड्गः को षट्शः, युक्तं को प्युक्तम् अथवा ह्युक्तम्, वासिष्ठाः को वासिष्ठः, वृथाभूताः को पृथक्भूताः होना चाहिए। खड्गः और वृथाभूताः तो भयंकर त्रुटि है इनमें प्रथम का कोई अर्थ नहीं है और दूसरी ने तो पुराण और वेद के स्वरूप को ही नष्ट कर दिया है।

इन्हीं दोनों पुराणों के भाव को लेकर स्वल्प से परिवर्तन के साथ विष्णु पुराण का पाठ है :—

(ख) **नक्षत्रकल्पो वेदानां संहितानां तथैव च।** ३/६/१३
चतुर्थः स्यादाङ्गिरसः शान्तिकल्पश्च पञ्चमः।
श्रेष्ठास्त्वथर्वणामेते संहितानां विकल्पकाः।।१४।।
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः।।१५।।
प्रख्यातो व्यासशिष्योऽभूत् सूतो वै रोमहर्षणः।
पुराणसंहितां तस्मै तदौ व्यासो महामतिः।।१६।।
सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायुः शांसपायनः।
अकृतव्रणसावर्णी षट् शिष्यास्तस्य चाभवन्।।१७।।
काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिः शांसपायनः।
रोमहर्षणिका चान्या तिसृणां मूलसंहिता।।१८।।
चतुष्टयेन भेदेन संहितानामिदं मुने।।१९।।

यह पाठ भी पर्याप्त अशुद्ध है। इसी रूप में गीता प्रेस गोरखपुर के संस्करण में अनुवाद कर दिया गया है। यही अनुवाद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

सैन्धव से पढ़कर मुञ्जिकेश ने अपनी संहिता के पहले दो और तीन (इस प्रकार पांच) विभाग किये। नक्षत्रकल्प, वेदकल्प, संहिताकल्प, अंङ्गिरस कल्प और शान्ति कल्प— उनके रचे हुए ये पांच विकल्प अथर्ववेद—संहिताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं।। १३-१४।।

तदनन्तर, पुराणार्थविशारद व्यास जी ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के सहित पुराण संहिता की रचना की।। १५।। रोमहर्षण सूत व्यास जी के प्रसिद्ध शिष्य थे। महामति व्यास जी ने उन्हें पुराण संहिता का अध्ययन कराया। १६।। उन सूत जी के सुमति, अग्निवर्चा, मित्रायु, शांसपायन अकृतव्रण और सावर्णि ये छः शिष्य थे। १७।। काश्यप गोत्रीय अकृतव्रण सावर्णि और शांसपायन— ये तीनों संहिताकर्ता हैं। उन तीनों संहिताओं का आधार एक रोमहर्षण जी की संहिता है। हे मुने! इन चारों संहिताओं का सारभूत मैंने यह विष्णुपुराण संहिता बनायी है। १८-१९।।

मुञ्जिकेश ने पृथक्-पृथक् दो बार शिष्यों को शाखा विस्तार के लिए प्रमुख रूप में पढ़ाया, फलस्वरूप प्रथम बार दो शिष्य तथा दूसरी बार तीन शिष्य इस कार्य को आगे बढ़ाने को तैयार हुए। यउह इस कथन का अभिप्राय है। नक्षत्र कल्प आदि शाखाओं के नाम नहीं हैं। अथर्ववेद (की सभी शाखाओं) में ये पांच कल्प हैं।

'नक्षत्रकल्प' पद्य श्री श्रीधर स्वामी की आत्मप्रकाश में तथा विष्णुचित्ती में भी इसी रूप में ही है तथा इस अयुक्त पाठ के अनुसार ही उनकी टीकाएं हैं। श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं :—

(ग) **सैन्धव—मुञ्जिकेशसंहिताभेदा नक्षत्रकल्पादयः पञ्च।**

अर्थात् सैन्धव और मुञ्जिकेश की संहिता के नक्षत्र कल्प आदि पांच भेद हैं।

श्री विष्णुचित्ती में भी ऐसा ही लेख है :—

(घ) **मुञ्जिकेशसंहितयोः शिष्या अन्येऽष्टौ ययोः भेदेषु सुबहूपयोगाः पञ्चभेदाः नक्षत्रकल्पाद्याः।**

मुञ्जिकेश की संहिताद्वय के अन्य आठ शिष्य हैं। जिन दोनों (संहिताओं) के भेदों में अतीव बहूपयोगी पांच भेद नक्षत्रकल्प आदि हैं।

भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि वेदचतुष्टय में ही हूँ। इक्कीस शाखा विभक्त ऋग्वेद, सहस्रशाखा विभक्त साम तथा एक सौ एक शाखा विभक्त यजुर्वेद मुझे ही कहते हैं। मैं ही अथर्ववेद हूँ। यह बताने वाला निम्नलिखित पद्य है :—

(ङ) **पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम्।**
कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा।। शा.प. ३४२/९९

अथर्ववेद के कुशल विद्वान् मुझे ही कृत्याओं—आभिचारिक प्रयोगों से परिपूर्ण पञ्चकल्पात्मक अथर्ववेद कहते हैं।

अथर्ववेद की ९ शाखायें हैं, भगवान् उनकी गणना न कर अथर्ववेद के स्वरूप को यहाँ बता रहे हैं। आज उपलब्ध शौनक तथा पैप्पलाद संहिता का यही स्वरूप है। अतः दोनों टीकाओं की व्याख्या ठीक नहीं है।

जब अतिबहुश्रुत एवं शास्त्रज्ञशिरोमणि ये ही भ्रष्ट पाठ को ठीक नहीं करते हैं तो गीता प्रेस के परम आस्तिक तो क्या करेंगे और उनकी व्याख्या या अनुवाद को अक्षरशः ग्रहण कर लेने वाली डॉ. श्रद्धा शुक्ला को तो इसकी आवश्यकता ही अनुभव में नहीं आई होगी।

ये तीनों पुराण अथर्ववेद के तुरन्त पश्चात् प्रसंगादि कुछ भी परिवर्तित किये बिना पुराण शाखा की चर्चा करते हैं। ऐसा श्रीमद्भागवत में है :—

(च) **नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाङ्गिरसादयः।**
एत आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान् मुने!।। १२/७/४
त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः।
वैशम्पायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे।।५।।
अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात्।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम्।।६।।
कश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः।
अधीमहि व्यासशिष्यात् चतस्रो मूलसंहिताः।।७।।

नक्षत्रकल्प, शान्ति, कश्यप और अंगिरा आदि ये आथर्वणाचार्य हैं। मुने! अब पौराणिकों को सुनिये।।१ त्रय्यारुणि, २ कश्यप, ३ सावर्णि, ४ अकृतव्रण, ५ वैशम्पायन तथा ६ हारीत ये छः ही पौराणिक हैं।। ये भगवान् व्यास के शिष्य तथा मेरे पिता रोमहर्षण के मुख से (पुराण) संहिता का अध्ययन करते हैं। इन सब का शिष्य मैं उग्रश्रवा इनमें प्रत्येक की एक-एक संहिता के रूप में सारी संहिताएं पढ़ा हुआ हूँ। कश्यप, मैं, सावर्णि तथा रामशिष्य अकृतव्रण, इस प्रकार हमने व्यास के शिष्य से चार मूल संहिता पढ़ी हैं। ४-७।

श्रीमद्भागवत भी वेदाचार्यों की गणना में अथर्वाचार्यों को गिनाकर पुराणाचार्यों को गिना रहा है, फलतः यहाँ भी पुराण का वेदत्व अव्याहत है।

श्रीमद्भागवतकार इस पुराणाचार्य परम्परा को ठीक से प्रस्तुत नहीं कर पाये। उपरिनिर्दिष्ट तीनों पुराणों के सुस्पष्ट कथन से परम्परा इस प्रकार बनती है।

भगवान् कृष्णद्वैपायन ने सृष्टि सम्बन्धी मन्त्रों को प्रकरणानुसार एकत्र कर उनमें आख्यान, उपाख्यान, गाथाओं तथा कल्प विषयों को भी अतिरिक्त रूप में समाविष्ट करते हुए मन्त्र एवं तद्व्याख्यात्मक एक संहिता तैयार की, जैसे— होतृमन्त्रों से ऋचाओं की, आध्वर्यव से यजुषों की तथा इसी भांति साम, अथर्व की। यह संहिता उन्होंने शेष चारों शिष्यों के साथ रोमहर्षण को पढ़ाई। चूंकि रोमहर्षण इसी के लिए था अतः प्रसार-प्रचार का अधिकार (दायित्व) उसे ही था अतः उसे दी ऐसा वाक्य प्रयोग किया गया।

यह संहिता विभिन्न छः रूपों में अपने सभी शिष्यों को रोमहर्षण ने छः बार पढ़ाई, एक-एक अपनी संहिता लेता गया। ये छः शिष्य हैं :— १ आत्रेय सुमति, २ काश्यप अकृतव्रण, ३ भारद्वाज अग्निवर्चा, ४ वसिष्ठ मित्रयु, ५ सावर्णि सौमदत्ति तथा ६ सुशर्मा शांशपायन। पूर्वोद्धृत वायु और ब्रह्माण्ड में यह नाम गणना है। विष्णुपुराण ने ये नाम इस प्रकार गिने हैं :— १ सुमति, २ अग्निवर्चा, ३ मित्रायु, ४ शांशपायन, ५ अकृतव्रण तथा ६ सावर्णि।

सुमति आत्रेय है, अग्निवर्चा भारद्वाज है, मित्रायु वसिष्ठ है, शांशपायन (गोत्रनाम) का निजी नाम सुशर्मा है, अकृतव्रण काश्यप है, तथा सावर्णि सौमदत्ति = सोमदत्त पुत्र है। इस प्रकार विष्णु का वायु तथा ब्रह्माण्ड से अन्तर नहीं है।

इन छः में से अकृतव्रण काश्यप, सावर्णि सौमदत्ति तथा सुशर्मा शांशपायन ने अपनी-अपनी संहिताएं बनाई। स्वयं रोमहर्षण की संहिता के साथ ये कुल चार संहिताएं हो जाती हैं। ये ही चार संहिताएं थी जो आज प्राप्त सभी पुराणों का आधार रही है जैसा कि मैत्रेय को पराशर कहते हैं कि मेरा विष्णुपुराण इनको मूल मानकर प्रोक्त है।

श्रीमद्भागवत में प्रणेता का अवधान इस ओर नहीं रहा, पञ्चकल्प के नक्षत्रकल्प और शान्ति (कल्प) को वे आथर्वणाचार्यों में गिन लेते हैं। छः पौराणिकों में त्रय्यारुणि, वैशम्पायन तथा हारीत नये नाम ले लेते हैं, कश्यपगोत्रोत्पन्न अकृतव्रण को कश्यप और अकृतव्रण दो व्यक्तियों के रूप में ले लेते हैं। इस प्रकार छः नामों में सावर्णि और

अकृतव्रण दो ही ठीक है। अकृतव्रण को वे राम अर्थात् भगवान् परशुराम के शिष्य के रूप में जानते भी हैं तथापि कश्यप को पृथक् कर देते हैं। शांशपायन के स्थान पर सुप्रसिद्ध वैशम्पायन नाम आ जाता है। त्रय्यारुण १५वें व्यास हैं जो आरुणि का स्थान ले लेते हैं।

व्यासशिष्य रोमहर्षण से पढ़ने वाले छः शिष्य हैं, उग्रश्रवा इन सब से तथा अपने पिता रोमहर्षण से एक-एक संहिता पढ़ता है इस प्रकार कुल सात संहिताएं होती हैं तो फिर चार मूल संहिताओं की परिणाम में गणना कैसे? जिन चार संहिताओं को पढ़ने वाले लोग गिने जाते हैं उनमें कश्यप अकृतव्रण तो एक ही हैं जो रामशिष्य है, मैं उग्रश्रवा तथा तीसरा सावर्णि है। क्या इनके प्रवचन से चार संहिताएं हैं तो भी ठीक नहीं? ये तो अध्येता हैं।

पुराण को वैदिक संहिताओं के महत्त्व की दृष्टि से देखते तो ये त्रुटियां नहीं होती। अब इस प्रसंग के उपसंहार वाक्यों को भी देखते हैं। विष्णुपुराण कहता है —

२३२ **इति शाखाः समाख्याताश्शाखाभेदास्तथैव च।**
कर्तारश्चैव शाखानां भेदहेतुस्तथोदितः।। ६/७/३१ ।।
सर्वमन्वन्तरेष्वेवं शाखाभेदाः समाः स्मृताः।
प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे द्विज!।। ३२ ।।
एतत्ते कथितं सर्वं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
मैत्रेय! वेदसम्बद्धः किमन्यत् कथयामि ते।। ३३ ।।

इस प्रसंग की पूर्ति पर पराशर मैत्रेय को कहते हैं कि — इस प्रकार मैंने शाखाओं तथा शाखाभेदों का वर्णन किया है। शाखाओं के प्रवचन करने वालों के साथ ही भेद के हेतुओं का भी विवरण दिया है। ३१। सभी मन्वन्तरों में इसी प्रकार से समानशाखा भेद हैं। प्राजापत्य श्रुति नित्य है, ये शाखाएं तो उसके विकल्प हैं। ३२। मैत्रेय! वेदशाखा विषयक इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ मैंने वेद के सम्बन्ध में वक्तव्य सब कुछ कह दिया है अब इससे भिन्न क्या सुनना चाहते हो जो कहूँ। ३३।

इस वाक्य के साथ अध्याय पूर्ण हो जाता है। यह सुविस्तृत कथन तृतीय अध्याय से षष्ठ अध्याय तक लगभग ११६ पद्यों में जो कुछ कहा गया है, वह मैत्रेय के इस प्रश्न का उत्तर है :—

२३३ **एतत्तु श्रोतुमिच्छामि व्यस्ता वेदा महात्मना।**
वेदव्यासस्वरूपेण तथा तेन युगे युगे।। ६/३/२

यस्मिन् यस्मिन् युगे व्यासो यो य आसीन्महामुने!।
तं तमाचक्ष्व भगवन् शाखाभेदाँश्च मे वद।। ३।।

मैत्रेय भगवान् विष्णु की महिमा का गान करते हुए कहते हैं कि—मैंने आपसे यह जान लिया है कि यह सम्पूर्ण जगत् विष्णु है, विष्णु में हैं तथा विष्णु से है। उनसे परे कुछ भी नहीं है, अब मैं आपसे यह सुनना चाहता हूँ कि उन महात्मा विष्णु ने वेदव्यास रूप से वेदों का जिस प्रकार युग-युग में विस्तार किया है। २। हे महामुने! जिस-जिस युग में जो-जो व्यास था उस विषय में मुझे बताइये साथ ही शाखा भेद भी कहिये। ३।

प्रश्न वेदों के व्यास का तथा उसी के रूप में शाखाभेद का है, वेदों का व्यास करने वाले महर्षि के प्रातिस्विक नाम जानने का है। इसे प्रारम्भ करते हुए पराशर कहते हैं :—

२३४ **वेदद्रुमस्य मैत्रेय शाखाभेदाः सहस्रशः।**
न शक्तो विस्तराद् वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम्।। ४।।

मैत्रेय! वेदद्रुम (= वेदवृक्ष) की शाखाओं के हजारों भेद हैं। उन्हें विस्तार से बताना सम्भव नहीं है अतः उस विषय को संक्षेप में ही सुनो।

इसके बाद प्रत्येक द्वापर में हुए इस मन्वन्तर के ब्रह्मा से लेकर कृष्णद्वैपायन तक के २८ नामों को पराशर गिनाते हैं जिनमें वे स्वयम् भी एक हैं। इसके पश्चात् वेद की ऋक्, यजुः, साम, अथर्व तथा पुराण की शाखाओं की शिष्य प्रशिष्य के साथ गणना कर प्रसंग को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार स्पष्टरूप में यहाँ पुराण का वेदत्व कहा गया है।

ऐसा ही प्रश्न वायुपुराण में है :—

(क) **ऋषयस्तद्वचः श्रुत्वा सूतमाहुः सुदुस्तरम्।**
कथं वेदाः पुरा व्यस्तास्तन्नो ब्रूहि महामते!।। ६०/१

सूत द्वारा ऋषिलक्षण सुनकर ऋषियों ने सूत को सुदुस्तर प्रश्न किया— महामते! पुराकाल में वेदों का व्यास क्यों और कैसे किया, यह आप हमें कहिये।

यहाँ भी उपसंहार वाक्य सर्वथा विष्णुपुराण जैसा ही है :—

(ख) **इति संख्या समाख्याता शाखाभेदास्तथैव च।** २/६१/७३।।
कर्तारश्चैव शाखानां भेदे हेतुस्तथैव च।
सर्वमन्वन्तरेष्वेवं शाखाभेदाः समाः स्मृताः।। ७४।।
प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः।। ७५।।

ब्रह्माण्ड पुराण में भी सर्वथा ये ही पद्य हैं :—

(ग) **वायुरुवाच—**

ऋषयस्तद्वचः श्रुत्वा सूतमाहुस्तदुत्तरम्।
कथं वेदाः पुनर्व्यस्तास्तन्नो ब्रूहि महामते।। २/३४/१ ।।

सूतः—

इति संख्या प्रसंख्याता शाखाभेदास्तथैव तु।
कर्तारश्चैव शाखानां भेदहेतूँस्तथैव च।। २/३५/८३ ।।
सर्वमन्वन्तरेष्वेवं शाखाभेदाः समाश्रिताः।
प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः।। ८४ ।।

श्रीमद्भागवत का उपसंहार वाक्य भी इन तीनों पुराणों से संवादी है :—

२३५ **ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः।**
शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्धनम्।। १२/७/२५ ।।

हे ब्रह्मन्! मुनि व्यास का यह शाखा प्रणयन मैंने तुम्हें कहा है जो शिष्यों, उनके शिष्यों तथा प्रशिष्यों के ब्रह्मतेज को बढ़ाने वाला है।

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, श्रौतादिसूत्र, स्मृति तथा पुराण वाङ्मय के साक्ष्य पर पुराण का वेदत्व बताया गया है। यह विषय यहाँ पूर्ण हो जाता है। एतद्विषयक विभिन्न पक्षों पर विचार आगे होगा। इति शम्

पुराण दर्शन समग्र दृष्टि

प्रथम खण्ड—'पुराण का वेदत्व'

—पं. अनन्त शर्मा

हमारे प्रकाशन

1. व्याख्यान-मणिमाला
सम्पादक : डॉ. ताराशंकर शर्मा
मूल्य : 100/-

2. मञ्जुनाथवाग्वैजयन्ती
सम्पादक : देवर्षि कलानाथ शास्त्री
मूल्य : 255/-

3. INTEGRAL WORLD VIEW OF THE VEDAS
लेखक : प्रो. दयानन्द भार्गव
मूल्य : 395/-

4. अश्वशास्त्रम्
सम्पादक : डॉ. संदीप जोशी
मूल्य : 2100/-

5. JYOTPATTI
सम्पादक : वेणुगोपाल डी.हेरूर
डा. जे.एन. विजय
मूल्य : 195/-

6. सांख्यकारिका
सम्पादक : डॉ. प्रमोदकुमारशर्मा
मूल्य : 295/-

7. काव्य-दर्शन-विमर्श
लेखक : आ. राममूर्ति त्रिपाठी
मूल्य : 320/-

8. वैदिकसंहितासु ज्योतिर्विज्ञानम्
सम्पादक : डॉ. विनोद कुमारशर्मा
मूल्य : 301/-

9. चिकित्साज्योतिषम्
सम्पादक : डॉ. विनोद कुमारशर्मा
मूल्य : 475/-

10. प्रौढचिन्तनचन्द्रिका
लेखक : आ. बदरिप्रसादशास्त्री
सम्पादकः डॉ. सुभाषशर्मा
मूल्य : 100/-

11. भारतीय सभ्यता का सांस्कृतिक फलक
लेखक : वासुदेव पोद्दार
सम्पादक : अनन्त शर्मा मूल्य : 100/-

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य
राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
ग्रामः-मदाऊ, पो. भांकरोटा, जयपुर-302 026 (भारत)
फोन : 91-141-5132021
Website : www.jrrsanskrituniversity.ac.in

हमारे प्रकाशन

1. व्याख्यान-मणिमाला
सम्पादक : डॉ. ताराशंकर शर्मा
मूल्य : 100/-

2. मञ्जुनाथवाग्वैजयन्ती
सम्पादक : देवर्षि कलानाथ शास्त्री
मूल्य : 255/-

3. INTEGRAL WORLD VIEW OF THE VEDAS
लेखक : प्रो. दयानन्द भार्गव
मूल्य : 395/-

4. अश्वशास्त्रम्
सम्पादक : डॉ. संदीप जोशी
मूल्य : 2100/-

5. JYOTPATTI
सम्पादक : वेणुगोपाल डी.हेरूर
डा. जे.एन. विजय
मूल्य : 195/-

6. सांख्यकारिका
सम्पादक : डॉ. प्रमोदकुमारशर्मा
मूल्य : 295/-

7. काव्य-दर्शन-विमर्श
लेखक : आ. राममूर्ति त्रिपाठी
मूल्य : 320/-

8. वैदिकसंहितासु ज्योतिर्विज्ञानम्
सम्पादक : डॉ. विनोद कुमारशर्मा
मूल्य : 301/-

9. चिकित्साज्योतिषम्
सम्पादक : डॉ. विनोद कुमारशर्मा
मूल्य : 475/-

10. प्रौढचिन्तनचन्द्रिका
लेखक : आ. बदरिप्रसादशास्त्री
सम्पादकः डॉ. सुभाषशर्मा
मूल्य : 100/-

11. भारतीय सभ्यता का सांस्कृतिक फलक
लेखक : वासुदेव पोद्दार
सम्पादक : अनन्त शर्मा
मूल्य : 100/-

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य
राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
ग्रामः-मदाऊ, पो. भांकरोटा, जयपुर-302 026 (भारत)
फोन : 91-141-5132021
Website : www.jrrsanskrituniversity.ac.in